अर्धमागधी आगम-साहित्य : एक विमर्श

भारतीय संस्कृति में अति प्राचीनकाल से ही दो समानान्तर धाराओं की उपस्थिति पाई जाती है— श्रमणधारा और वैदिकधारा। जैन-धर्म और संस्कृति इसी श्रमणधारा का अङ्ग है। जहाँ श्रमणधारा निवृत्तिपरक रही, वहाँ वैदिकधारा प्रवृत्तिपरक। जहाँ श्रमणधारा में संन्यास का प्रत्यय प्रमुख बना, वहाँ वैदिकधारा में गृहस्थजीवन का। श्रमणधारा ने सांसारिक जीवन की दुःखमयता को अधिक अभिव्यक्ति दी और यह माना कि शरीर आत्मा का बन्धन है और संसार दुःखों का सागर, अतः उसने शरीर और संसार दोनों से ही मुक्ति को अपनी साधना का लक्ष्य माना। उसकी दृष्टि में जैविक एवं सामाजिक मूल्य गौण रहे और अनासक्ति, वैराग्य और आत्मानुभूति के रूप में मोक्ष या निर्वाण को ही सर्वोच्च मूल्य माना गया। इसके विपरीत वैदिकधारा ने सांसारिक जीवन को वरेण्य मानकर जैविक एवं सामाजिक मूल्यों अर्थात् जीवन के रक्षण एवं पोषण के प्रयत्नों के साथ-साथ पारस्परिक सहयोग या सामाजिकता को प्रधानता दी। फलतः वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं पारस्परिक सहयोग हेतु प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखर हुए हैं, यथा— हम सौ वर्ष जीयें, हमारी सन्तान बलिष्ठ हो, हमारी गायें अधिक दूध दें, वनस्पति एवं अन्न प्रचुर मात्रा में उत्पन्न हों, हममें परस्पर सहयोग हो आदि। ज्ञातव्य है कि वेदों में वैराग्य एवं मोक्ष की अवधारणा अनुपस्थित है, जबकि वह श्रमणधारा का केन्द्रीय तत्त्व है। इस प्रकार ये दोनों धाराएँ दो भिन्न जीवन-दृष्टियों को लेकर प्रवाहित हुई हैं। परिणामस्वरूप इनके साहित्य में भी इन्हीं भिन्न-भिन्न जीवन-दृष्टियों का प्रतिपादन पाया जाता है।

श्रमण-परम्परा के साहित्य में संसार की दुःखमयता को प्रदर्शित कर त्याग और वैराग्यमय जीवन-शैली का विकास किया गया, जबकि वैदिक साहित्य में ऐहिक जीवन को अधिक सुखी और समृद्ध बनाने हेतु प्रार्थनाओं की और सामाजिक-व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) और भौतिक उपलब्धियों हेतु विविध कर्मकाण्डों की सर्जना हुई। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य, जिसमें मुख्यतः वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ समाहित हैं, में लौकिक जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने वाली प्रार्थनाओं और कर्मकाण्डों का ही प्राधान्य है। इसके विपरीत श्रमण-परम्परा के प्रारम्भिक साहित्य में संसार की दुःखमयता और क्षणभङ्गुरता को प्रदर्शित कर उससे वैराग्य और विमुक्ति को ही प्रधानता दी गई है। संक्षेप में श्रमणपरम्परा का साहित्य वैराग्य-प्रधान है।

श्रमणधारा और उसकी ध्यान और योग-साधना की परम्परा के अस्तित्व के सङ्केत हमें मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की संस्कृति के काल से ही मिलने लगते हैं। यह माना जाता है कि हड़प्पा-संस्कृति वैदिक संस्कृति से भी पूर्ववर्ती रही है। ऋग्वेद जैसे प्राचीनतम ग्रन्थ में व्रात्यों और वातरशना मुनियों के उल्लेख भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं कि उस युग में श्रमणधारा का अस्तित्व था। जहाँ तक इस प्राचीन श्रमण-परम्परा के साहित्य का प्रश्न है दुर्भाग्य से वह आज हमें उपलब्ध नहीं है, किन्तु वेदों में उस प्रकार की जीवन-दृष्टि की उपस्थिति के सङ्केत यह अवश्य सूचित करते हैं कि उनका अपना कोई साहित्य भी रहा होगा, जो कालक्रम में लुप्त हो गया। आज आत्मसाधना-प्रधान निवृत्तिमूलक श्रमणधारा के साहित्य का सबसे प्राचीन अंश यदि कहीं उपलब्ध है, तो वह औपनिषदिक साहित्य में है। प्राचीन उपनिषदों में न केवल वैदिक कर्म-काण्डों और भौतिकवादी जीवन-दृष्टि की आलोचना की गई है, अपितु आध्यात्मिक मूल्यों की जो प्रतिष्ठा हुई है, वह स्पष्टतया इस तथ्य का प्रमाण है कि वे मूलतः श्रमण जीवन-दृष्टि के प्रस्तोता हैं।

यह सत्य है कि उपनिषदों में वैदिकधारा के भी कुछ सङ्केत उपलब्ध हैं किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि उपनिषदों की मूलभूत जीवन-दृष्टि वैदिक नहीं, श्रमण है। वे उस युग की रचनायें हैं, जब वैदिकों द्वारा श्रमण-संस्कृति के जीवन मूल्यों को स्वीकृत किया जा रहा था। वे वैदिक संस्कृति और श्रमण-संस्कृति के समन्वय की कहानी कहते हैं। ईशावास्योपनिषद् में समन्वय का यह प्रयत्न स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उसमें त्याग और भोग, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, कर्म और कर्म-संन्यास, व्यक्ति और समष्टि, अविद्या (भौतिक ज्ञान) और विद्या (आध्यात्मिक ज्ञान) के मध्य एक सुन्दर समन्वय स्थापित किया गया है।

उपनिषदों का पूर्ववर्ती एवं समसामयिक श्रमण-परम्परा का जो अधिकांश साहित्य था, वह श्रमण-परम्परा की अन्य धाराओं के जीवित न रह पाने या उनके बृहद् हिन्दू-परम्परा में समाहित हो जाने के कारण या तो विलुप्त हो गया था या फिर दूसरी जीवित श्रमण परम्पराओं अथवा बृहद् हिन्दू-परम्परा के द्वारा आत्मसात् कर लिया गया। किन्तु उसके अस्तित्व के सङ्केत एवं अवशेष आज भी औपनिषदिक साहित्य, पालित्रिपिटक और जैनागमों में सुरक्षित हैं। प्राचीन आरण्यकों, उपनिषदों, आचाराङ्ग (प्रथम श्रुतस्कन्ध), सूत्रकृताङ्ग, उत्तराध्ययन, इसिभासियाइं, थेरगाथा, सुत्तनिपात और महाभारत में इन विलुप्त या समाहित श्रमण-परम्पराओं के अनेक ऋषियों के उपदेश आज भी पाये जाते हैं। इसिभासियाइं, सूत्रकृताङ्ग और उत्तराध्ययन में उल्लिखित याज्ञवल्क्य, नारद, असितदेवल, कपिल, पाराशर, आरुणि, उद्दालक, नमि, बाहुक, रामपुत्त आदि ऋषि वे ही हैं, जिनमें से अनेक के उपदेश एवं आख्यान उपनिषदों एवं महाभारत में भी सुरक्षित हैं। जैन-परम्परा में ऋषिभाषित में इन्हें अर्हत् ऋषि एवं सूत्रकृताङ्ग में सिद्धि को प्राप्त तपोधन महापुरुष कहा गया है और उन्हें अपनी पूर्व परम्परा से सम्बद्ध बताया गया है। पालित्रिपिटक दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में भी बुद्ध के समकालीन छह तीर्थङ्करों— अजितकेशकम्बल, प्रकुधकात्यायन, पूर्णकश्यप, सञ्जयवेलट्ठिपुत्त, मङ्खलिगोशालक एवं निग्गंठनातपुत्त की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान्यताओं का निर्देश हुआ है, फिर चाहे उन्हें विकृत रूप में ही प्रस्तुत क्यों न किया गया हो। इसी प्रकार थेरगाथा, सुत्तनिपात आदि के अनेक थेर (स्थविर) भी प्राचीन श्रमण-परम्पराओं से सम्बन्धित रहे हैं। इस सबसे भारत में श्रमणधारा के प्राचीनकाल में अस्तित्व की सूचना मिल जाती है। पद्मभूषण पं० दलसुखभाई मालवणिया ने पालित्रिपिटक में अजित, अरक और अरनेमि नामक तीर्थङ्करों के उल्लेख को भी खोज निकाला है। ज्ञातव्य है कि उसमें इन्हें "तित्थकरो कामेसु वीतरागो" कहा गया है— चाहे हम यह मानें या न मानें कि इनकी सङ्गति जैन परम्परा के अजित, अर और अरिष्टनेमि नामक तीर्थङ्करों से हो सकती है— किन्तु इतना तो मानना ही होगा कि ये सभी उल्लेख श्रमणधारा के अतिप्राचीन अस्तित्व को ही सूचित करते हैं।

वैदिक साहित्य और जैनागम

वैदिक साहित्य में वेद प्राचीनतम हैं। वेदों के सन्दर्भ में भारतीय दर्शनों में दो प्रकार की मान्यताएँ उल्लिखित हैं। मीमांसकदर्शन के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष द्वारा निर्मित नहीं हैं। उनके अनुसार वेद अनादि-निधन हैं, शाश्वत हैं, न तो उनका कोई रचयिता है और नहीं रचनाकाल। नैयायिकों की मान्यता इससे भिन्न है, वे वेद-वचनों को ईश्वर-सृष्ट मानते हैं। उनके अनुसार वेद अपौरुषेय नहीं, अपितु ईश्वरकृत हैं। ईश्वरकृत होते हुए भी ईश्वर के अनादि-निधन होने से वेद भी अनादि-निधन माने जा सकते हैं, किन्तु जब उन्हें ईश्वरसृष्ट मान लिया गया है, तो फिर अनादि कहना उचित नहीं है, क्योंकि ईश्वर की अपेक्षा से तो वे सादि ही होंगे।

जहाँ तक जैनागमों का प्रश्न है उन्हें अर्थ-रूप में अर्थात् कथ्य-विषय-वस्तु की अपेक्षा से तीर्थङ्करों के द्वारा उपदिष्ट माना जाता है। इस दृष्टि से वे अपौरुषेय नहीं हैं। वे अर्थ-रूप में तीर्थङ्करों द्वारा उपदिष्ट और शब्द-रूप में गणधरों द्वारा रचित माने जाते हैं, किन्तु यह बात भी केवल अङ्ग आगमों के सन्दर्भ में है। अङ्गबाह्य आगम ग्रन्थ तो विभिन्न स्थविरों और पूर्वधर-आचार्यों की कृति माने ही जाते हैं। इस प्रकार जैन-आगम पौरुषेय (पुरुषकृत) हैं और काल विशेष में निर्मित हैं।

किन्तु जैन आचार्यों ने एक अन्य अपेक्षा से विचार करते हुए अङ्ग-आगमों को शाश्वत भी कहा है। उनके इस कथन का आधार यह है कि तीर्थङ्करों की परम्परा तो अनादिकाल से चली आ रही है और अनन्तकाल तक चलेगी, कोई भी काल ऐसा नहीं, जिसमें तीर्थङ्कर नहीं होते हैं। अत: इस दृष्टि से जैन-आगम भी अनादि-अनन्त सिद्ध होते हैं। जैन मान्यता के अनुसार तीर्थङ्कर भिन्न-भिन्न आत्माएँ होती हैं, किन्तु उनके उपदेशों में समानता होती है और उनके समान उपदेशों के आधार पर रचित ग्रन्थ भी समान ही होते हैं। इसी अपेक्षा से नन्दीसूत्र में आगमों को अनादि-निधन भी कहा गया है। तीर्थङ्करों के कथन में चाहे शब्द-रूप में भिन्नता हो, किन्तु अर्थ-रूप में भिन्नता नहीं होती है। अत: अर्थ या कथ्य की दृष्टि से यह एकरूपता ही जैनागमों को प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त सिद्ध करती है। नन्दीसूत्र (सूत्र ५८) में कहा गया है "यह जो द्वादश-अङ्ग या गणिपिटक है वह ऐसा नहीं है कि यह कभी नहीं था, कभी नहीं रहेगा और न कभी होगा। यह सदैव था, सदैव है और सदैव रहेगा। यह ध्रुव, नित्य शाश्वत, अक्षय, अवस्थित और नित्य है।" इस प्रकार जैन-चिन्तक एक ओर प्रत्येक तीर्थङ्कर के उपदेश के आधार पर उनके प्रमुख शिष्यों के द्वारा शब्द-रूप में आगमों की रचना होने की अवधारणा को स्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर अर्थ या कथ्य की दृष्टि से समरूपता के आधार पर यह भी स्वीकार करते हैं कि अर्थ-रूप से जिनवाणी सदैव थी और सदैव रहेगी। वह कभी भी नष्ट नहीं होती है। विचार की अपेक्षा से आगमों की शाश्वतता और नित्यता मान्य करते हुए भी जैन-परम्परा उन्हें शब्द-रूप से सृष्ट और विच्छिन्न होने वाला भी मानती है। अनेकान्त की भाषा में कहें तो तीर्थङ्कर की अनवरत परम्परा की दृष्टि से आगम शाश्वत और नित्य हैं, जबकि तीर्थङ्कर-विशेष के शासन की अपेक्षा से वे सृष्ट एवं अनित्य हैं।

वैदिक साहित्य और जैनागमों में दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि वेदों के अध्ययन में सदैव ही शब्द-रूप को महत्त्व दिया गया और यह माना गया कि शब्द-रूप में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए, उसका अर्थ स्पष्ट हो या न हो। इसके विपरीत जैन-परम्परा में तीर्थङ्करों को अर्थ का प्रवक्ता माना गया और इसलिए इस बात पर बल दिया गया कि चाहे आगमों में शब्द-रूप में भिन्नता हो जाय किन्तु उनमें अर्थ-भेद नहीं होना चाहिए। यही कारण था कि शब्द-रूप की इस उपेक्षा के कारण परवर्तीकाल में आगमों में अनेक भाषिक परिवर्तन हुए और आगम पाठों की एकरूपता नहीं रह सकी। यद्यपि विभिन्न सङ्गीतियों के माध्यम से एकरूपता बनाने का प्रयास हुआ, लेकिन उसमें पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी। यद्यपि वह शब्द-रूप परिवर्तन भी आगे निर्बाध रूप से न चले, इसलिए एक ओर उन्हें लिपिबद्ध करने का प्रयास हुआ तो दूसरी ओर आगमों में पद, अक्षर, अनुस्वार आदि में परिवर्तन करना भी महापाप बताया गया। इस प्रकार यद्यपि आगमों के भाषागत स्वरूप को स्थिरता तो प्रदान की गयी, फिर भी शब्द की अपेक्षा अर्थ पर अधिक बल दिये जाने के कारण जैनागमों का स्वरूप पूर्णतया अपरिवर्तित नहीं रह सका, जबकि वेद शब्द-रूप में अपरिवर्तित रहे। आज भी उनमें ऐसी अनेक ऋचायें हैं— जिनका कोई अर्थ नहीं निकलता है (अनर्थका: हि वेद-मन्त्रा:)। इस प्रकार वेद शब्द-प्रधान है जबकि जैन-आगम अर्थ-प्रधान है।

वेद और जैनागमों में तीसरी भिन्नता उनकी विषय-वस्तु की अपेक्षा से भी है। वेदों में भौतिक उपलब्धियों हेतु प्राकृतिक शक्तियों के प्रति प्रार्थनाएँ ही प्रधान रूप से देखी जाती हैं साथ ही कुछ खगोल-भूगोल सम्बन्धी विवरण और कथाएँ भी हैं। जबकि जैन अर्धमागधी-आगम साहित्य में आध्यात्मिक एवं वैराग्यपरक उपदेशों के द्वारा मन, इन्द्रिय और वासनाओं पर विजय पाने के निर्देश दिये गये हैं। इसके साथ-साथ उसमें मुनि एवं गृहस्थ के आचार सम्बन्धी विधि-निषेध प्रमुखता से वर्णित हैं तथा तप-साधना और कर्म-फल विषयक कुछ कथाएँ भी हैं। खगोल-भूगोल सम्बन्धी चर्चा भी जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थों में है। जहाँ तक जैनदर्शन का प्रश्न है उसका प्रारम्भिक रूप ही अर्धमागधी आगमों में उपलब्ध होता है।

वैदिक साहित्य में वेदों के पश्चात् क्रमशः ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों का क्रम आता है। इनमें ब्राह्मण ग्रन्थ मुख्यतः यज्ञ-याग सम्बन्धी कर्मकाण्डों का विवरण प्रस्तुत करते हैं। अतः उनकी शैली और विषय-वस्तु दोनों ही अर्धमागधी आगम-साहित्य से भिन्न है। आरण्यकों के सम्बन्ध में मैं अभी तक सम्यक् अध्ययन नहीं कर पाया हूँ अतः उनसे अर्धमागधी आगम-साहित्य की तुलना कर पाना मेरे लिये सम्भव नहीं है। किन्तु आरण्यकों में वैराग्य, निवृत्ति एवं वानप्रस्थ जीवन के अनेक तथ्यों के उल्लेख होने से विशेष तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उनमें और जैन-आगमों में निहित समरूपता को खोजा जा सकता है।

जहाँ तक उपनिषदों का प्रश्न है उपनिषदों के अनेक अंश आचाराङ्ग, इसिभासियाइं आदि प्राचीन अर्धमागधी आगम-साहित्य में भी यथावत् उपलब्ध होते हैं। याज्ञवल्क्य, नारद, कपिल, असितदेवल, अरुण, उद्दालक, पाराशर आदि अनेक औपनिषदिक ऋषियों के उल्लेख एवं उपदेश इसिभासियाइं, आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग एवं उत्तराध्ययन में उपलब्ध हैं। इसिभासियाइं में याज्ञवल्क्य का उपदेश उसी रूप में वर्णित है, जैसा वह उपनिषदों में मिलता है। उत्तराध्ययन के अनेक आख्यान, उपदेश एवं कथाएँ मात्र नाम-भेद के साथ महाभारत में भी उपलब्ध हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में विस्तारभय से वह सब तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। इनके तुलनात्मक अध्ययन हेतु इच्छुक पाठकों को अपनी इसिभासियाइं की भूमिका एवं 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' खण्ड १ एवं २ देखने की अनुशंसा के साथ इस चर्चा को यहीं विराम देता हूँ।

पालित्रिपिटक और जैनागम

पालित्रिपिटक और जैनागम अपने उद्भव-स्रोत की अपेक्षा से समकालिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि पालित्रिपिटक के प्रवक्ता भगवान् बुद्ध और जैनागमों के प्रवक्ता भगवान् महावीर समकालिक ही हैं। इसलिए दोनों के प्रारम्भिक ग्रन्थों का रचनाकाल भी समसामयिक है। दूसरे जैन-परम्परा और बौद्ध-परम्परा दोनों ही भारतीय संस्कृति की श्रमणधारा के अङ्ग हैं अतः दोनों की मूलभूत जीवन-दृष्टि एक ही है। इस तथ्य की पुष्टि जैनागमों और पालित्रिपिटक के तुलनात्मक अध्ययन से हो जाती है। दोनों परम्पराओं में समान रूप से निवृत्तिपरक जीवन-दृष्टि को अपनाया गया है और सदाचार एवं नैतिकता की प्रस्थापना के प्रयत्न किये गये हैं, अतः विषय-वस्तु की दृष्टि से भी दोनों ही परम्पराओं के साहित्य में समानता है। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक एवं कुछ प्रकीर्णकों की अनेक गाथाएँ, सुत्तनिपात, धम्मपद आदि में मिल जाती हैं। किन्तु जहाँ तक दोनों के दर्शन एवं आचार-नियमों का प्रश्न है, वहाँ स्पष्ट अन्तर भी देखा जाता है। क्योंकि जहाँ भगवान् बुद्ध आचार के क्षेत्र में मध्यममार्गी थे, वहाँ महावीर तप, त्याग और तितिक्षा पर अधिक बल दे रहे थे। इस प्रकार आचार के क्षेत्र में दोनों की दृष्टियाँ भिन्न थीं। यद्यपि विचार के क्षेत्र में महावीर और बुद्ध दोनों ही एकान्तवाद के समालोचक थे, किन्तु जहाँ बुद्ध ने एकान्तवादों को केवल नकारा, वहाँ महावीर ने उन एकान्तवादों का समन्वय किया। अतः दर्शन के क्षेत्र में बुद्ध की दृष्टि नकारात्मक रही है, जबकि महावीर की सकारात्मक। इस दर्शन और आचार के क्षेत्र में दोनों में जो भिन्नता थी, वह उनके साहित्य में भी अभिव्यक्त हुई है। फिर भी सामान्य पाठक की अपेक्षा से दोनों परम्परा के ग्रन्थों में क्षणिकवाद, अनात्मवाद आदि दार्शनिक प्रस्थानों को छोड़कर एकता ही अधिक परिलक्षित होती है।

आगमों का महत्त्व एवं प्रामाणिकता

प्रत्येक धर्म-परम्परा में धर्म-ग्रन्थ या शास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि उस धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त और आचार-व्यवस्था दोनों के लिए 'शास्त्र' ही एकमात्र प्रमाण होता है। हिन्दूधर्म में वेद का, बौद्धधर्म में त्रिपिटक का, पारसीधर्म में अवेस्ता का, ईसाईधर्म में बाइबिल का और इस्लाम धर्म में कुरान का जो स्थान है, वही स्थान जैनधर्म में आगम-साहित्य का है। फिर भी आगम-साहित्य को न तो वेद के समान अपौरुषेय माना गया है और न बाइबिल या कुरान के समान किसी पैगम्बर के माध्यम से दिया गया ईश्वर का सन्देश ही, अपितु वह उन अर्हतों व ऋषियों की वाणी का सङ्कलन है, जिन्होंने अपनी तपस्या और साधना द्वारा सत्य का प्रकाश प्राप्त किया था। जैनों के लिए आगम जिनवाणी है, आप्तवचन है, उनके धर्म-दर्शन और साधना का आधार है। यद्यपि वर्तमान में जैनधर्म का दिगम्बर सम्प्रदाय उपलब्ध अर्धमागधी आगमों को प्रमाणभूत नहीं मानता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में इन आगमों में कुछ ऐसा प्रक्षिप्त अंश है, जो उनकी मान्यताओं के विपरीत है। मेरी दृष्टि में चाहे वर्तमान में उपलब्ध अर्धमागधी आगमों में कुछ प्रक्षिप्त अंश हों या उनमें कुछ परिवर्तन-परिवर्धन भी हुआ हो, फिर भी वे जैनधर्म के प्रामाणिक दस्तावेज हैं। उनमें अनेक ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध हैं। उनकी पूर्णतः अस्वीकृति का अर्थ अपनी प्रामाणिकता को ही नकारना है। श्वेताम्बर-मान्य इन अर्धमागधी आगमों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये ई०पू० पाँचवीं शती से लेकर ईसा की पाँचवीं शती अर्थात् लगभग एक हजार वर्ष में जैन-संघ के चढ़ाव-उतार की एक प्रामाणिक कहानी कह देते हैं।

अर्धमागधी आगमों का वर्गीकरण

वर्तमान में जो आगम-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उन्हें निम्न रूप में वर्गीकृत किया जाता है—

११ अङ्ग

१. आयार (आचाराङ्गः), २. सूयगड (सूत्रकृताङ्गः), ३. ठाण (स्थानाङ्गः), ४. समवाय (समवायाङ्गः), ५. वियाहपन्नत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्तिः या भगवती), ६. नायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथाः), ७. उवासगदसाओ (उपासकदशाः), ८. अंतगडदसाओ (अन्तकृद्दशाः), ९. अनुत्तरोववाइय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दसाओ (अनुत्तरौपपातिकदशा:), १०. पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरणानि), ११. विवागसुयं (विपाकश्रुतम्), १२. दृष्टिवाद: (दिट्ठिवाय), जो विच्छिन्न हुआ है।

१२ उपाङ्ग

१. उववाइयं (औपपातिकं), २. रायपसेणइजं (राजप्रसेनजित्कं) अथवा रायपसेणियं (राजप्रश्नीयं), ३. जीवाजीवाभिगम, ४. पण्णवणा (प्रज्ञापना), ५. सूरपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति:), ६. जम्बुद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति:), ७. चंदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति:), ८-१२. निरयावलियासुयक्खंध (निरयावलिकाश्रुतस्कन्ध:), ८. निरयावलियाओ (निरयावलिका:), ९. कप्पवडिंसियाओ (कल्पावतंसिका:), १०. पुप्फियाओ (पुष्पिका:), ११. पुप्फचूलाओ (पुष्पचूला:), १२. वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा:)।

जहाँ तक उपर्युक्त अङ्ग और उपाङ्ग ग्रन्थों का प्रश्न है। श्वेताम्बर-परम्परा के सभी सम्प्रदाय इन्हें मान्य करते हैं। जबकि दिगम्बर-सम्प्रदाय इन्हीं ग्यारह अङ्गसूत्रों को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि अङ्गसूत्र वर्तमान में विलुप्त हो गये हैं। उपाङ्गसूत्रों के सन्दर्भ में श्वेताम्बर-परम्परा के सभी सम्प्रदायों में एकरूपता है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा में बारह उपाङ्गों की न तो कोई मान्यता रही और न वे वर्तमान में इन ग्रन्थों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यद्यपि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति आदि नामों से उनके यहाँ कुछ ग्रन्थ अवश्य पाये जाते हैं। साथ ही सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को भी उनके द्वारा दृष्टिवाद के परिकर्म विभाग के अन्तर्गत स्वीकार किया गया था।

४ मूलसूत्र

सामान्यतया (१) उत्तराध्ययन, (२) दशवैकालिक, (३) आवश्यक और (४) पिण्डनिर्युक्ति— ये चार मूलसूत्र माने गये हैं। फिर भी मूलसूत्रों की संख्या और नामों के सन्दर्भ में श्वेताम्बर-सम्प्रदायों में एकरूपता नहीं है। जहाँ तक उत्तराध्ययन और दशवैकालिक का प्रश्न है इन्हें सभी श्वेताम्बर सम्प्रदायों एवं आचार्यों ने एक मत से मूलसूत्र माना है। समयसुन्दर, भावप्रभसूरि तथा पाश्चात्य विद्वानों में प्रो० ब्यूहलर, प्रो० शारपेन्टियर, प्रो० विन्टर्नित्ज़, प्रो० शुब्रिंग आदि ने एक स्वर से आवश्यक को मूलसूत्र माना है, किन्तु स्थानकवासी एवं तेरापन्थी सम्प्रदाय आवश्यक को मूलसूत्र के अन्तर्गत नहीं मानते हैं। ये दोनों सम्प्रदाय आवश्यक एवं पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर नन्दी और अनुयोगद्वार को मूलसूत्र मानते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक-परम्परा में कुछ आचार्यों ने पिण्डनिर्युक्ति के साथ-साथ ओघनिर्युक्ति को भी मूलसूत्र में माना है। इस प्रकार मूलसूत्रों के वर्गीकरण और उनके नामों में एकरूपता का अभाव है। दिगम्बर-परम्परा में इन मूलसूत्रों में से दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और आवश्यक मान्य रहे हैं। तत्त्वार्थ की दिगम्बर टीकाओं में, धवला में तथा अङ्गपण्णत्ति में इनका उल्लेख है। ज्ञातव्य है कि अङ्गपण्णत्ति में नन्दीसूत्र की भाँति ही आवश्यक के छह विभाग किये गये हैं। यापनीय-परम्परा में भी न केवल आवश्यक, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक मान्य रहे हैं, अपितु यापनीय आचार्य अपराजित (नवीं शती) ने तो दशवैकालिक की टीका भी लिखी थी।

६. छेदसूत्र

छेदसूत्रों के अन्तर्गत वर्तमान में १. आयारदशा (दशाश्रुतस्कन्ध), २. कप्प (कल्प), ३. ववहार (व्यवहार), ४. निसीह (निशीथ), ५. महानिशीथ और ६. जीयकप्प (जीतकल्प)— ये छह ग्रन्थ माने जाते हैं। इनमें से महानिशीथ और जीतकल्प को श्वेताम्बरों की तेरापन्थी और स्थानकवासी सम्प्रदायें मान्य नहीं करती हैं। वे दोनों मात्र चार ही छेदसूत्र मानते हैं। जबकि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय उपर्युक्त ६ छेदसूत्रों को मानता है। जहाँ तक दिगम्बर और यापनीय परम्परा का प्रश्न है उनमें अङ्गबाह्य ग्रन्थों में कल्प, व्यवहार और निशीथ का उल्लेख मिलता है। यापनीय-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में न केवल इनका उल्लेख मिलता है, अपितु इनके अवतरण भी दिये गये हैं। आश्चर्य यह है कि वर्तमान में दिगम्बर-परम्परा में प्रचलित मूलत: यापनीय-परम्परा के प्रायश्चित्त सम्बन्धी ग्रन्थ "छेदपिण्डशास्त्र" में कल्प और व्यवहार के प्रामाण्य के साथ-साथ जीतकल्प का भी प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। इस प्रकार दिगम्बर एवं यापनीय परम्पराओं में कल्प, व्यवहार, निशीथ और जीतकल्प की मान्यता रही है, यद्यपि वर्तमान में दिगम्बर आचार्य इन्हें मान्य नहीं करते हैं।

१० प्रकीर्णक

इसके अन्तर्गत निम्न दस ग्रन्थ माने जाते हैं —

१. चउसरण (चतु:शरण), २. आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान), ३. भत्तपरिन्ना (भक्तपरिज्ञा), ४. संथारय (संस्तारक), ५. तंडुलवेयालिय (तंदुलवैचारिक), ६. चंदवेज्झय (चन्द्रवेध्यक), ७. देविन्दत्थय (देवेन्द्रस्तव), ८. गणिविज्जा (गणिविद्या), ९. महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान) और १० वीरत्थय (वीरस्तव)।

श्वेताम्बर-सम्प्रदायों में स्थानकवासी और तेरापंथी इन प्रकीर्णकों को मान्य नहीं करते हैं। यद्यपि मेरी दृष्टि में इनमें उनकी परम्परा के विरुद्ध ऐसा कुछ भी नहीं है, जिससे इन्हें अमान्य किया जाये। इनमें से ९ प्रकीर्णकों का उल्लेख तो नन्दीसूत्र में मिल जाता है। अत: इन्हें अमान्य करने का कोई औचित्य नहीं है। हमने इसकी विस्तृत चर्चा आगम संस्थान, उदयपुर से प्रकाशित 'महापच्चक्खाण' की भूमिका में की है। जहाँ तक दस प्रकीर्णकों के नाम आदि का प्रश्न है, श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के आचार्यों में भी किंचित् मतभेद पाया जाता है। लगभग ९ नामों में तो एकरूपता है किन्तु भत्तपरिन्ना, मरणविधि और वीरस्तव ये तीन नाम ऐसे हैं जो भिन्न-भिन्न आचार्यों के वर्गीकरण में भिन्न-भिन्न रूप से आये हैं। किसी ने भक्तपरिज्ञा को छोड़कर मरणविधि का उल्लेख किया है तो किसी ने उसके स्थान पर वीरस्तव का उल्लेख किया है। मुनि श्री पुण्यविजयजी ने 'पइण्णयसुत्ताइं' के प्रथम भाग की भूमिका में प्रकीर्णक नाम से अभिहित लगभग २२ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनमें से अधिकांश महावीर विद्यालय से पइण्णयसुत्ताइं नाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से २ भागों में प्रकाशित हैं। अङ्गविद्या का प्रकाशन प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी की ओर से हुआ है। ये बाईस निम्नलिखित हैं—

१. चतुःशरण, २. आतुरप्रत्याख्यान, ३. भक्तपरिज्ञा, ४.संस्तारक, ५. तंदुलवैचारिक, ६. चन्द्रवेध्यक, ७. देवेन्द्रस्तव, ८. गणिविद्या, ९. महाप्रत्याख्यान, १०. वीरस्तव, ११. ऋषिभाषित, १२. अजीवकल्प, १३. गच्छाचार, १४. मरणसमाधि, १५. तित्थोगालिय, १६. आराधनापताका, १७. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, १८. ज्योतिष्करण्डक, १९.अङ्गविद्या, २०. सिद्धप्राभृत, २१. सारावली और २२. जीवविभक्ति।

इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक प्रकीर्णक भी उपलब्ध होते हैं, यथा— ''आउरपच्चक्खान'' के नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उनमें से एक तो दसवीं शती के आचार्य वीरभद्र की कृति है।

इनमें से नन्दी और पाक्षिकसूत्र के उत्कालिक सूत्रों के वर्ग में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, गणिविद्या, मरणविभक्ति, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान ये सात नाम पाये जाते हैं और कालिकसूत्रों के वर्ग में ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति ये दो नाम पाये जाते हैं। इस प्रकार नन्दी एवं पाक्षिकसूत्र में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक-समाज के कुछ आचार्य जो ८४ आगम मानते हैं, वे प्रकीर्णकों की संख्या १० के स्थान पर ३० मानते हैं। इसमें पूर्वोक्त २२ नामों के अतिरिक्त निम्न ८ प्रकीर्णक और माने गये हैं— पिण्डविशुद्धि, पर्यन्त-आराधना, योनिप्राभृत, अङ्गचूलिया, वङ्गचूलिया, वृद्धचतुःशरण, जम्बूपयन्ना और कल्पसूत्र।

जहाँ तक दिगम्बर-परम्परा एवं यापनीय-परम्परा का प्रश्न है, वे स्पष्टतः इन प्रकीर्णकों को मान्य नहीं करती हैं, फिर भी मूलाचार में आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान से अनेक गाथाएँ उसके संक्षिप्त प्रत्याख्यान और बृहत्-प्रत्याख्यान नामक अध्यायों में अवतरित की गई हैं। इसी प्रकार भगवतीआराधना में भी मरणविभक्ति, आराधनापताका आदि अनेक प्रकीर्णकों की गाथाएँ अवतरित हैं। ज्ञातव्य है कि इनमें अङ्ग-बाह्यों को प्रकीर्णक कहा गया है।

२ चूलिकासूत्र

चूलिकासूत्र के अन्तर्गत नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार— ये दो ग्रन्थ माने जाते हैं। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि स्थानकवासी परम्परा इन्हें चूलिकासूत्र न कहकर मूलसूत्र में वर्गीकृत करती है। फिर भी इतना निश्चित है कि ये दोनों ग्रन्थ श्वेताम्बर-परम्परा के सभी सम्प्रदायों को मान्य रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ११ अङ्ग, १२ उपाङ्ग, ४ मूल, ६ छेद, १० प्रकीर्णक, २ चूलिकासूत्र— ये ४५ आगम श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक-परम्परा में मान्य हैं। स्थानकवासी व तेरापन्थी इनमें से १० प्रकीर्णक, जीतकल्प, महानिशीथ और पिण्डनिर्युक्ति— इन १३ ग्रन्थों को कम करके ३२ आगम मान्य करते हैं।

जो लोग चौरासी आगम मान्य करते हैं वे दस प्रकीर्णकों के स्थान पर पूर्वोक्त तीस प्रकीर्णक मानते हैं। इसके साथ दस निर्युक्तियों तथा यतिजीतकल्प, श्राद्धजीतकल्प, पाक्षिकसूत्र, क्षमापनासूत्र, वन्दितु, तिथि-प्रकरण, कवचप्रकरण, संशक्तनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य को भी आगमों में सम्मिलित करते हैं।

इस प्रकार वर्तमानकाल में अर्धमागधी आगम-साहित्य को अङ्ग, उपाङ्ग, प्रकीर्णक, छेद, मूल और चूलिकासूत्र के रूप में वर्गीकृत किया जाता है, किन्तु यह वर्गीकरण पर्याप्त परवर्ती है। १२वीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में इस प्रकार के वर्गीकरण का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। वर्गीकरण की यह शैली सर्वप्रथम हमें आचार्य श्रीचन्द की 'सुखबोधासमाचारी' (ई०सन् ११११२) में आंशिक रूप से उपलब्ध होती है। इसमें आगम-साहित्य के अध्ययन का जो क्रम दिया गया है उससे केवल इतना ही प्रतिफलित होता है कि अङ्ग, उपाङ्ग आदि की अवधारणा उस युग में बन चुकी थी। किन्तु वर्तमानकाल में जिस प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है, वैसा वर्गीकरण उस समय तक भी पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं हुआ था। उसमें मात्र अङ्ग-उपाङ्ग, प्रकीर्णक इतने ही नाम मिलते हैं। विशेषता यह है कि उसमें नन्दीसूत्र व अनुयोगद्वारसूत्र को भी प्रकीर्णकों में सम्मिलित किया गया है। सुखबोधासमाचारी का यह विवरण मुख्य रूप से तो आगम-ग्रन्थों के अध्ययन-क्रम को ही सूचित करता है। इसमें मुनि-जीवन सम्बन्धी आचार नियमों के प्रतिपादक आगम-ग्रन्थों के अध्ययन को प्राथमिकता दी गयी है और सिद्धान्त-ग्रन्थों का अध्ययन बौद्धिक परिपक्वता के पश्चात् हो ऐसी व्यवस्था की गई है।

इसी दृष्टि से एक अन्य विवरण जिनप्रभ ने अपने ग्रन्थ 'विधिमार्गप्रपा' में दिया है। इसमें वर्तमान में उल्लिखित आगमों के नाम तो मिल जाते हैं, किन्तु कौन आगम किस वर्ग का है, यह उल्लेख नहीं है। मात्र प्रत्येक वर्ग के आगमों के नाम एक साथ आने के कारण यह विश्वास किया जा सकता है कि उस समय तक चाहे अङ्ग, उपाङ्ग आदि का वर्तमान वर्गीकरण पूर्णतः स्थिर न हुआ हो, किन्तु जैसा पद्मभूषण पं० दलसुखभाई का कथन है कि कौन ग्रन्थ किसके साथ उल्लिखित होना चाहिए ऐसा एक क्रम बन गया था, क्योंकि उसमें अङ्ग, उपाङ्ग, छेद, मूल, प्रकीर्णक एवं चूलिकासूत्रों के नाम एक ही साथ मिलते हैं। विधिमार्गप्रपा में अङ्ग, उपाङ्ग ग्रन्थों का पारस्परिक सम्बन्ध भी निश्चित किया गया था। मात्र यही नहीं एक मतान्तर का उल्लेख करते हुए उसमें यह भी बताया गया है कि कुछ आचार्य चन्द्रप्रज्ञप्ति एवं सूर्यप्रज्ञप्ति को भगवती का उपाङ्ग मानते हैं। जिनप्रभ ने इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम वाचनाविधि के प्रारम्भ में अङ्ग, उपाङ्ग, प्रकीर्णक, छेद और मूल— इन वर्गों का उल्लेख किया है। उन्होंने विधिमार्गप्रपा को ई० सन् १३०६ में पूर्ण किया था, अतः यह माना जा सकता है कि इसके आस-पास ही आगमों का वर्तमान वर्गीकरण प्रचलन में आया होगा।

आगमों के वर्गीकरण की प्राचीन शैली

अर्धमागधी आगम-साहित्य के वर्गीकरण की प्राचीन शैली इससे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न रही है। इस प्राचीन शैली का सर्वप्रथम निर्देश हमें नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र (ईसवी सन् पाँचवीं शती) में मिलता है। उस युग में आगमों को अङ्गप्रविष्ट व अङ्गबाह्य— इन दो भागों में विभक्त किया जाता था। अङ्गप्रविष्ट के अन्तर्गत आचाराङ्ग आदि १२ अङ्ग आते थे। शेष ग्रन्थ अङ्गबाह्य कहे जाते थे। उसमें अङ्गबाह्यों की एक संज्ञा प्रकीर्णक भी थी। अङ्गप्रज्ञप्ति नामक दिगम्बर-ग्रन्थ में भी अङ्गबाह्यों को प्रकीर्णक कहा गया है। अङ्गबाह्य को पुन: दो भागों में बाँटा जाता था— १. आवश्यक और २. आवश्यक-व्यतिरिक्त। आवश्यक के अन्तर्गत सामायिक आदि छ: ग्रन्थ थे। ज्ञातव्य है कि वर्तमान वर्गीकरण में आवश्यक को एक ही ग्रन्थ माना जाता है और सामायिक आदि छ: आवश्यक अङ्गों को उसके एक-एक अध्याय रूप में माना जाता है, किन्तु प्राचीनकाल में इन्हें छ: स्वतन्त्र ग्रन्थ माना जाता था। इसकी पुष्टि अङ्गपण्णत्ति आदि दिगम्बर-ग्रन्थों से भी हो जाती है। उनमें भी सामायिक आदि को छ: स्वतन्त्र ग्रन्थ माना गया है। यद्यपि उसमें कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान के स्थान पर वैनयिक एवं कृतिकर्म नाम मिलते हैं। आवश्यक-व्यतिरिक्त के भी दो भाग किये जाते थे— १. कालिक और २. उत्कालिक। जिनका स्वाध्याय विकाल को छोड़कर किया जाता था, वे कालिक कहलाते थे, जबकि उत्कालिक ग्रन्थों के अध्ययन या स्वाध्याय में काल एवं विकाल का विचार नहीं किया जाता था। नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र के अनुसार आगमों के वर्गीकरण की सूची निम्नानुसार है —

श्रुत (आगम)

(क) अङ्गप्रविष्ट

१. आचाराङ्ग
२. सूत्रकृताङ्ग
३. स्थानाङ्ग
४. समवायाङ्ग
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति
६. ज्ञाताधर्मकथा
७. उपासकदशाङ्ग
८. अन्तकृद्दशाङ्ग
९. अनुत्तरौपपातिकदशांग
१०. प्रश्नव्याकरण
११. विपाकसूत्र
१२. दृष्टिवाद

(ख) अङ्गबाह्य

(क) आवश्यक

१. सामायिक
२. चतुर्विंशतिस्तव
३. वन्दना
४. प्रतिक्रमण
५. कायोत्सर्ग
६. प्रत्याख्यान

(ख) आवश्यकव्यतिरिक्त

(क) कालिक

१. उत्तराध्ययन
२. दशाश्रुतस्कन्ध
३. कल्प
४. व्यवहार
५. निशीथ
६. महानिशीथ
७. ऋषिभाषित
८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
९. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
१०. चन्द्रप्रज्ञप्ति
११. क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्ति
१२. महल्लिकाविमानप्रविभक्ति
१३. अङ्गचूलिका
१४. वग्गचूलिका
१५. विवाहचूलिका
१६. अरुणोपपात
१७. वरुणोपपात
१८. गरुडोपपात
१९. धरणोपपात
२०. वैश्रमणोपपात
२१. वेलन्धरोपपात
२२. देवेन्द्रोपपात
२३. उत्थानश्रुत
२४. समुत्थानश्रुत
२५. नागपरिज्ञापनिका
२६. निरयावलिका
२७. कल्पिका
२८. कल्पावतंसिका
२९. पुष्पिता
३०. पुष्पचूलिका
३१. वृष्णिदशा

(ख) उत्कालिक

१. दशवैकालिक
२. कल्पिकाकल्पिक
३. चुल्लकल्पश्रुत
४. महाकल्पश्रुत
५. निशीथ
६. राजप्रश्नीय
७. जीवाभिगम
८. प्रज्ञापना
९. महाप्रज्ञापना
१०. प्रमादाप्रमाद
११. नन्दी
१२. अनुयोगद्वार
१३. देवेन्द्रस्तव
१४. तन्दुलवैचारिक
१५. चन्द्रवेध्यक
१६. सूर्यप्रज्ञप्ति
१७. पौरुषीमण्डल
१८. मण्डलप्रवेश
१९. विद्याचरणविनिश्चय
२०. गणिविद्या
२१. ध्यानविभक्ति
२२. मरणविभक्ति
२३. आत्मविशोधि
२४. वीतरागश्रुत
२५. संलेखणाश्रुत
२६. विहारकल्प
२७. चरणविधि
२८. आतुरप्रत्याख्यान
२९. महाप्रत्याख्यान

इस प्रकार नन्दीसूत्र में १२ अङ्ग, ६ आवश्यक, ३१ कालिक एवं २९ उत्कालिक सहित ७८ आगमों का उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है कि आज इनमें से अनेक ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।

यापनीय और दिगम्बर-परम्परा में आगमों का वर्गीकरण

यापनीय और दिगम्बर-परम्पराओं में जैन आगम-साहित्य के वर्गीकरण की जो शैली मान्य रही है, वह भी बहुत कुछ नन्दीसूत्र की शैली के ही अनुरूप है। उन्होंने उसे उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र से ग्रहण किया है। उसमें आगमों को अङ्ग और अङ्गबाह्य ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है। इनमें अङ्गों की बारह संख्या का स्पष्ट उल्लेख तो मिलता है, किन्तु अङ्गबाह्य की संख्या का स्पष्ट निर्देश नहीं है। मात्र यह कहा गया है अङ्गबाह्य अनेक प्रकार के हैं। किन्तु अपने तत्त्वार्थभाष्य (१/२०) में आचार्य उमास्वाति ने अङ्ग-बाह्य के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर्गत सर्वप्रथम सामायिक आदि छ: आवश्यकों का उल्लेख किया है उसके बाद दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा, कल्प-व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित के नाम देकर अन्त में आदि शब्द से अन्य ग्रन्थों का ग्रहण किया है। किन्तु अङ्गबाह्य में स्पष्ट नाम तो उन्होंने केवल बारह ही दिये हैं। इसमें कल्प-व्यवहार का एकीकरण किया गया है। एक अन्य सूचना से यह भी ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थभाष्य में उपाङ्ग संज्ञा का निर्देश है। हो सकता है कि पहले १२ अङ्गों के समान ही १२ उपाङ्ग माने जाते हों। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार पूज्यपाद, अकलङ्क, विद्यानन्दी आदि दिगम्बर आचार्यों ने अङ्गबाह्य में न केवल उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है, अपितु कालिक एवं उत्कालिक ऐसे वर्गों का भी नाम निर्देश (१/२०) किया है। हरिवंशपुराण एवं धवलाटीका में आगमों का जो वर्गीकरण उपलब्ध होता है उसमें १२ अङ्गों एवं १४ अङ्गबाह्यों का उल्लेख है। उसमें भी अङ्गबाह्यों में सर्वप्रथम छ: आवश्यकों का उल्लेख है, तत्पश्चात् दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प-व्यवहार, कप्पाकप्पीय (कल्पिकाकल्पिक), महाकप्पीय (महाकल्प), पुण्डरीक, महापुण्डरीक व निशीथ का उल्लेख है। इस प्रकार धवला में १२ अङ्ग और १४ अङ्गबाह्यों की गणना की गयी। इसमें भी कल्प और व्यवहार को एक ही ग्रन्थ माना गया है। ज्ञातव्य है कि तत्त्वार्थभाष्य की अपेक्षा इसमें कप्पाकप्पीय, महाकप्पीय, पुण्डरीक और महापुण्डरीक— ये चार नाम अधिक हैं। किन्तु भाष्य में उल्लिखित दशा और ऋषिभाषित को छोड़ दिया गया है। इसमें जो चार नाम अधिक हैं— उनमें कप्पाकप्पीय और महाकप्पीय का उल्लेख नन्दीसूत्र में भी है, मात्र पुण्डरीक और महापुण्डरीक ये दो नाम विशेष हैं।

दिगम्बर-परम्परा में आचार्य शुभचन्द्र कृत अङ्गप्रज्ञप्ति (अङ्गपण्णत्ति) नामक एक ग्रन्थ मिलता है। यह ग्रन्थ धवलाटीका के पश्चात् का प्रतीत होता है। इसमें धवलाटीका में वर्णित १२ अङ्गप्रविष्ट व १४ अङ्गबाह्य ग्रन्थों की विषय-वस्तु का विवरण दिया गया है। इसमें अङ्गबाह्य ग्रन्थों की विषय-वस्तु का विवरण संक्षिप्त ही है। इस ग्रन्थ में और दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में अङ्गबाह्यों को प्रकीर्णक भी कहा गया है (३.१०)। इसमें कहा गया है कि सामायिक प्रमुख १४ प्रकीर्णक अङ्गबाह्य हैं। इसमें दिये गये विषय-वस्तु के विवरण से लगता है कि यह विवरण मात्र अनुश्रुति के आधार पर लिखा गया है, मूल ग्रन्थों को लेखक ने नहीं देखा है। इसमें भी पुण्डरीक और महापुण्डरीक का उल्लेख है। इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख श्वेताम्बर-परम्परा में मुझे कहीं नहीं मिला। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा के सूत्रकृताङ्ग में एक अध्ययन का नाम पुण्डरीक अवश्य मिलता है। प्रकीर्णकों में एक सारावली प्रकीर्णक है। इसमें पुण्डरीक महातीर्थ (शत्रुञ्जय) की महत्ता का विस्तृत विवरण है। सम्भव है कि पुण्डरीक सारावली प्रकीर्णक का ही यह दूसरा नाम हो। फिर भी स्पष्ट प्रमाण के अभाव में इस सम्बन्ध में अधिक कुछ कहना उचित नहीं होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम शती से लेकर दसवीं शती तक आगमों को नन्दीसूत्र की शैली में अङ्ग और अङ्गबाह्य— पुन: अङ्गबाह्यों को आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त, ऐसे दो विभागों में बाँटा जाता था। आवश्यक-व्यतिरिक्त में भी कालिक और उत्कालिक ऐसे दो विभाग सर्वमान्य थे। लगभग ग्यारहवीं-बारहवीं शती के बाद से अङ्ग, उपाङ्ग, प्रकीर्णक, छेद, मूल और चूलिकासूत्र— यह वर्तमान वर्गीकरण अस्तित्व में आया है। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में सभी अङ्गबाह्य आगमों के लिए प्रकीर्णक (पइण्णय) नाम भी प्रचलित रहा है।

अर्धमागधी आगम-साहित्य की प्राचीनता एवं रचनाकाल

भारत जैसे विशाल देश में अतिप्राचीनकाल से ही अनेक बोलियों का अस्तित्व रहा है, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से भारत में तीन प्राचीन भाषाएँ प्रचलित रही हैं— संस्कृत, प्राकृत और पालि। इनमें संस्कृत के दो रूप पाये जाते हैं— छान्दस् और साहित्यिक संस्कृत। वेद छान्दस् संस्कृत में है, जो पालि और प्राकृत के निकट है। उपनिषदों की भाषा छान्दस् की अपेक्षा साहित्यिक संस्कृत के अधिक निकट है। प्राकृत भाषा में निबद्ध जो साहित्य उपलब्ध है, उसमें अर्धमागधी आगम साहित्य प्राचीनतम है। यहाँ तक कि आचाराङ्ग का प्रथम श्रुतस्कन्ध और ऋषिभाषित तो अशोककालीन प्राकृत अभिलेखों से भी प्राचीन है। ये दोनों ग्रन्थ लगभग ई०पू० पाँचवीं-चौथी शताब्दी की रचनाएँ हैं। आचाराङ्ग की सूत्रात्मक औपनिषदिक शैली उसे उपनिषदों का निकटवर्ती और स्वयं भगवान् महावीर की वाणी सिद्ध करती है। भाव, भाषा और शैली तीनों के आधार पर यह सम्पूर्ण पालि और प्राकृत-साहित्य में प्राचीनतम है। आत्मा के स्वरूप एवं अस्तित्व-सम्बन्धी इसके विवरण औपनिषदिक विवरणों के अनुरूप हैं। इसमें प्रतिपादित महावीर का जीवनवृत्त भी अलौकिकता और अतिशयता रहित है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विवरण भी उसी व्यक्ति द्वारा कहा गया है, जिसने स्वयं उनकी जीवनचर्या को निकटता से देखा और जाना होगा। अर्धमागधी आगम-साहित्य में ही सूत्रकृताङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्याय, आचाराङ्गचूला और कल्पसूत्र में भी महावीर की जीवनचर्या का उल्लेख है, किन्तु वे भी आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा परवर्ती हैं, क्योंकि उनमें क्रमश: अलौकिकता, अतिशयता और अतिरञ्जना का प्रवेश होता गया है। इसी प्रकार ऋषिभाषित की साम्प्रदायिक अभिनिवेश से रहित उदारदृष्टि तथा भाव और भाषागत अनेक तथ्य उसे आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर सम्पूर्ण प्राकृत एवं पालिसाहित्य में प्राचीनतम सिद्ध करते हैं। पालिसाहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात माना जाता है, किन्तु अनेक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि ऋषिभाषित, सुत्तनिपात से भी प्राचीन है। अर्धमागधी आगमों की प्रथम वाचना स्थूलिभद्र के समय अर्थात् ईसा पूर्व तीसरी शती में हुई थी, अत: इतना निश्चित् है कि उस समय तक अर्धमागधी आगम-साहित्य अस्तित्व में आ चुका था। इस प्रकार अर्धमागधी आगम-साहित्य के कुछ ग्रन्थों के रचनाकाल की उत्तर सीमा ई॰पू॰ पाँचवीं-चौथी शताब्दी सिद्ध होती है, जो कि इस साहित्य की प्राचीनता को प्रमाणित करती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर भी हमें यह स्मरण रखना होगा कि सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य न तो एक व्यक्ति की रचना है और न एक काल की। यह सत्य है कि इस साहित्य को अन्तिम रूप वीरनिर्वाण सम्वत् ९८० में वलभी में सम्पन्न हुई वाचना में प्राप्त हुआ। किन्तु इस आधार पर हमारे कुछ विद्वान् मित्र यह गलत निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि अर्धमागधी-आगम साहित्य ईसवी सन् की पाँचवी शताब्दी की रचना है। यदि अर्धमागधी आगम ईसा की पाँचवी शती की रचना हैं, तो वलभी की इस अन्तिम वाचना के पूर्व भी वलभी, मथुरा, खण्डगिरि और पाटलीपुत्र में जो वाचनायें हुई थीं उनमें सङ्कलित साहित्य कौन सा था? उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि वलभी में आगमों को सङ्कलित, सुव्यवस्थित और सम्पादित करके लिपिबद्ध (पुस्तकारूढ़) किया गया था, अत: यह किसी भी स्थिति में उनका रचनाकाल नहीं माना जा सकता है। सङ्कलन और सम्पादन का अर्थ रचना नहीं है। पुन: आगमों में विषय-वस्तु, भाषा और शैली की जो विविधता और भिन्नता परिलक्षित होती है, वह स्पष्टतया इस तथ्य की प्रमाण है कि सङ्कलन और सम्पादन के समय उनकी मौलिकता को यथावत् रखने का प्रयत्न किया गया है, अन्यथा आज उनका प्राचीन स्वरूप समाप्त ही हो जाता और आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा और शैली भी परिवर्तित हो जाती तथा उसके उपधानश्रुत नामक नवें अध्ययन में वर्णित महावीर का जीवनवृत्त अलौकिकता एवं अतिशयों से युक्त बन जाता। यद्यपि यह सत्य है कि आगमों की विषय-वस्तु में कुछ प्रक्षिप्त अंश हैं, किन्तु प्रथम तो ऐसे प्रक्षेप बहुत ही कम हैं और दूसरे उन्हें स्पष्ट रूप से पहचाना भी जा सकता है। अत: इस आधार पर सम्पूर्ण अर्धमागधी-आगम-साहित्य को परवर्ती मान लेना सबसे बड़ी भ्रान्ति होगी।

अर्धमागधी-आगम-साहित्य पर कभी-कभी महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर भी उसकी प्राचीनता पर संदेह किया जाता है। किन्तु प्राचीन हस्तप्रतों के आधार पर पाठों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक प्राचीन हस्तप्रतों में आज भी उनका 'त' श्रुतिप्रधान अर्धमागधी स्वरूप सुरक्षित है। आचाराङ्ग के प्रकाशित संस्करणों के अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि परवर्तीकाल में उसमें कितने पाठान्तर हो गये हैं। इस साहित्य पर जो महाराष्ट्री प्रभाव आ गया है वह लिपिकारों और टीकाकारों की अपनी भाषा के प्रभाव के कारण है। उदाहरण के रूप में सूत्रकृताङ्ग का 'रामपुत्ते' पाठ चूर्णि में 'रामाउत्ते' और शीलाङ्क की टीका में 'रामगुत्ते' हो गया। अत: अर्धमागधी-आगमों में, महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर उनकी प्राचीनता पर सन्देह नहीं करना चाहिये। अपितु उन ग्रन्थों की विभिन्न प्रतों एवं निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं के आधार पर पाठों के प्राचीन स्वरूपों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिये। वस्तुत: अर्धमागधी-आगम-साहित्य में विभिन्न काल की सामग्री सुरक्षित है। इसकी उत्तर सीमा ई०पू० पाँचवीं-चौथी शताब्दी और निम्न सीमा ई०सन् की पाँचवीं शताब्दी है। वस्तुत: अर्धमागधी आगम-साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों का या उनके किसी अंश-विशेष का काल निर्धारित करते समय उनमें उपलब्ध सांस्कृतिक सामग्री, दार्शनिक-चिन्तन की स्पष्टता एवं गहनता, भाषा-शैली आदि सभी पक्षों पर प्रामाणिकता के साथ विचार करना चाहिए। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर ही यह स्पष्ट बोध हो सकेगा कि अर्धमागधी-आगम-साहित्य का कौन सा ग्रन्थ अथवा उसका कौन सा अंश-विशेष किस काल की रचना है।

अर्धमागधी-आगमों की विषय-वस्तु सम्बन्धी निर्देश श्वेताम्बर परम्परा में हमें स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, नन्दीसूत्र, नन्दीचूर्णि एवं तत्त्वार्थभाष्य में तथा दिगम्बर-परम्परा में तत्त्वार्थ की टीकाओं के साथ-साथ धवला, जयधवला में मिलते हैं। तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर-परम्परा की टीकाओं और धवलादि में उनकी विषय-वस्तु सम्बन्धी निर्देश मात्र अनुश्रुतिपरक है, वे ग्रन्थों के वास्तविक अध्ययन पर आधारित नहीं हैं। उनमें दिया गया विवरण तत्त्वार्थभाष्य एवं परम्परा से प्राप्त सूचनाओं पर आधारित है। जबकि श्वेताम्बर परम्परा में स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, नन्दी आदि अर्धमागधी आगमों और उनकी व्याख्याओं एवं टीकाओं में उनकी विषय-वस्तु का जो विवरण है वह उन ग्रन्थों के अवलोकन पर आधारित है क्योंकि प्रथम तो इस परम्परा में आगमों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा आज तक जीवित चली आ रही है। दूसरे, आगम-ग्रन्थों की विषय-वस्तु में कालक्रम से क्या परिवर्तन हुआ है, इसकी सूचना श्वेताम्बर-परम्परा के उपर्युक्त आगम-ग्रन्थों से ही प्राप्त हो जाती है। इनके अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस काल में किस आगम-ग्रन्थ में कौन सी सामग्री जुड़ी और अलग हुई है। आचाराङ्ग में आचारचूला और निशीथ के जुड़ने और पुन: निशीथ के अलग होने की घटना, समवायाङ्ग और स्थानाङ्ग में समय-समय पर हुए प्रक्षेप, ज्ञाताधर्मकथा के द्वितीय वर्ग में जुड़े हुए अध्याय, प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु में हुआ सम्पूर्ण परिवर्तन, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक एवं विपाक के अध्ययनों में हुए आंशिक परिवर्तन— इन सबकी प्रामाणिक जानकारी हमें उन विवरणों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करने से मिल जाती है। इनमें प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु का परिवर्तन ही ऐसा है, जिसके वर्तमान स्वरूप की सूचना केवल नन्दीचूर्णि (ईस्वी सन् सातवीं शती) में मिलती है। वर्तमान प्रश्नव्याकरण लगभग ईस्वी सन् की पाँचवीं-छठीं शताब्दी में अस्तित्व में आया है। इस प्रकार अर्धमागधी आगम-साहित्य लगभग एक सहस्र वर्ष की सुदीर्घ अवधि में किस प्रकार निर्मित, परिवर्धित, परिवर्तित एवं सम्पादित होता रहा है इसकी सूचना भी स्वयं अर्धमागधी आगम-साहित्य और उसकी टीकाओं से मिल जाती है।

वस्तुत: अर्धमागधी-आगम-विशेष या उसके अंश विशेष के रचनाकाल का निर्धारण एक जटिल समस्या है, इस सम्बन्ध में विषय-वस्तु सम्बन्धी विवरण, विचारों का विकासक्रम, भाषा-शैली आदि अनेक दृष्टियों से निर्णय करना होता है। उदाहरण के रूप में स्थानाङ्ग में सात निह्नवों और नौ गणों का उल्लेख मिलता है जो कि वीरनिर्वाण सं० ६०९ अथवा उसके बाद अस्तित्व में आये, अत: विषय-वस्तु की दृष्टि से स्थानाङ्ग के रचनाकाल की अन्तिम सीमा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीरनिर्वाण सम्वत् ६०९ के पूर्व अर्थात् ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध या द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्ध सिद्ध होती है। इसी प्रकार आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की विषय-वस्तु एवं भाषा-शैली आचाराङ्ग के रचनाकाल को अर्धमागधी-आगम-साहित्य में सबसे प्राचीन सिद्ध करती है। अर्धमागधी-आगम के काल-निर्धारण में इन सभी पक्षों पर विचार अपेक्षित है।

इस प्रकार न तो हमारे कुछ दिगम्बर विद्वानों की यह दृष्टि समुचित है कि अर्धमागधी आगम देवर्द्धिगणि की वाचना के समय अर्थात् ईसा की पाँचवीं शताब्दी में अस्तित्व में आये और न कुछ श्वेताम्बर आचार्यों का यह कहना ही समुचित है कि सभी अङ्ग-आगम अपने वर्तमान स्वरूप में गणधरों की रचना हैं और उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन, परिवर्धन, प्रक्षेप या विलोप नहीं हुआ है। किन्तु इतना निश्चित है कि कुछ प्रक्षेपों को छोड़कर अर्धमागधी-आगम-साहित्य शौरसेनी आगम-साहित्य से प्राचीन है। शौरसेनी-आगम-साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ कसायपाहुडसुत्त भी ईस्वी सन् की तीसरी-चौथी शताब्दी से प्राचीन नहीं है। उसके पश्चात् षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवतीआराधाना, तिलोयपण्णत्ति, पिण्डछेदशास्त्र, आवश्यक (प्रतिक्रमणसूत्र) आदि का क्रम आता है, किन्तु पिण्डछेदशास्त्र और आवश्यक (प्रतिक्रमण) के अतिरिक्त इन सभी ग्रन्थों में गुणस्थान सिद्धान्त आदि की उपस्थिति से यह फलित होता है कि ये सभी ग्रन्थ पाँचवीं शती के पश्चात् के हैं। दिगम्बर आवश्यक (प्रतिक्रमण) एवं पिण्डछेदशास्त्र का आधार भी क्रमश: श्वेताम्बर मान्य आवश्यक और कल्प-व्यवहार, निशीथ आदि छेदसूत्र ही रहे हैं। उनके प्रतिक्रमणसूत्र में भी वर्तमान सूत्रकृताङ्ग के तेईस एवं ज्ञाताधर्मकथा के उन्नीस अध्ययनों का विवरण है तथा पिण्डछेदशास्त्र में जीतकल्प के आधार पर प्रायश्चित्त देने का निर्देश है। ये यही सिद्ध करते हैं कि प्राकृत-आगम-साहित्य में अर्धमागधी-आगम ही प्राचीनतम हैं चाहे उनकी अन्तिम वाचना पाँचवीं शती के उत्तरार्ध (ई०सन् ४५३) में ही सम्पन्न क्यों न हुई हो?

इस प्रकार जहाँ तक आगमों के रचनाकाल का प्रश्न है उसे ई०पू० पाँचवीं शताब्दी से ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक लगभग एक हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में व्याप्त माना जा सकता है क्योंकि उपलब्ध आगमों में सभी एक काल की रचना नहीं हैं। आगमों के सन्दर्भ में और विशेष रूप से अङ्ग-आगमों के सम्बन्ध में परम्परागत मान्यता तो यही है कि वे गणधरों द्वारा रचित होने के कारण ई०पू० पाँचवीं शताब्दी की रचना हैं। किन्तु दूसरी ओर कुछ विद्वान् उन्हें वलभी में सङ्कलित एवं सम्पादित किये जाने के कारण ईसा की पाँचवीं शती की रचना मान लेते हैं। मेरी दृष्टि में ये दोनों ही मत समीचीन नहीं हैं। देवर्धि के सङ्कलन, सम्पादन एवं ताडपत्रों पर लेखन-काल को उनका रचनाकाल नहीं माना जा सकता। अङ्ग-आगम तो प्राचीन ही है। ईसा पूर्व चौथी शती में पाटलीपुत्र की वाचना में जिन द्वादश अङ्गों की वाचना हुई थी, वे निश्चित रूप से उसके पूर्व ही बने होंगे। यह सत्य है कि आगमों में देवर्धि की वाचना के समय अथवा उसके बाद भी कुछ प्रक्षेप हुए हों, किन्तु उन प्रक्षेपों के आधार पर सभी अङ्ग-आगमों का रचनाकाल ई०सन् की पाँचवीं शताब्दी नहीं माना जा सकता। डॉ० हर्मन याकोबी ने यह निश्चित किया है कि आगमों का प्राचीन अंश ई०पू० चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर ई०पू० तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच का है। न केवल अङ्ग-आगम अपितु दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार भी, जिन्हें आचार्य भद्रबाहु की रचना माना जाता है याकोबी और शुब्रिंग के अनुसार ई०पू० चतुर्थ शती के उत्तरार्द्ध से ई०पू० तीसरी शती के पूर्वार्द्ध में निर्मित हैं। पं० दलसुखभाई आदि की मान्यता है कि आगमों का रचनाकाल प्रत्येक ग्रन्थ की भाषा, छन्दयोजना, विषय-वस्तु और उपलब्ध आन्तरिक और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है। आचाराङ्ग का प्रथम श्रुतस्कन्ध अपनी भाषा-शैली, विषय-वस्तु, छन्दयोजना आदि की दृष्टि से महावीर की वाणी के सर्वाधिक निकट प्रतीत होता है। उसकी औपनिषदिक शैली भी यही बताती है कि वह एक प्राचीन ग्रन्थ है। उसका काल किसी भी स्थिति में ई०पू० चतुर्थ शती के बाद का नहीं हो सकता। उसके द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रूप में जो 'आयारचूला' जोड़ी गयी है, वह भी ई०पू० दूसरी या प्रथम शती से परवर्ती नहीं है। सूत्रकृताङ्ग भी एक प्राचीन आगम है उसकी भाषा, छन्दयोजना एवं उसमें विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं तथा ऋषियों के जो उल्लेख मिले हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह भी ई०पू० चौथी-तीसरी शती से बाद का नहीं हो सकता, क्योंकि उसके बाद विकसित दार्शनिक मान्यताओं का उसमें कही कोई उल्लेख नहीं है। उसमें उपलब्ध वीरस्तुति में भी अतिरञ्जनाओं का प्राय: अभाव ही है। अङ्ग आगमों में तीसरा क्रम स्थानाङ्ग का आता है। स्थानाङ्ग, बौद्ध-आगम अङ्गुत्तरनिकाय की शैली का ग्रन्थ है। ग्रन्थ-लेखन की यह शैली भी प्राचीन रही है। स्थानाङ्ग में नौ गणों और सात निह्नवों के उल्लेख को छोड़कर अन्य ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे उसे परवर्ती कहा जा सके। हो सकता है कि जैनधर्म के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के कारण ये उल्लेख उसमें अन्तिम वाचना के समय प्रक्षिप्त किये गये हों। उसमें जो दस दशाओं और उसमें प्रत्येक के अध्यायों के नामों का उल्लेख है, वह भी उन आगमों की प्राचीन विषय-वस्तु का निर्देश करता है। यदि वह वलभी के वाचनाकाल में निर्मित हुआ होता तो उसमें दस दशाओं की जो विषय-वस्तु वर्णित है वह भिन्न होती। अत: उसकी प्राचीनता में सन्देह नहीं किया जा सकता। समवायाङ्ग, स्थानाङ्ग की अपेक्षा एक परवर्ती ग्रन्थ है। इसके प्रारम्भ में द्वादश अङ्गों का स्पष्ट उल्लेख है। साथ ही इसमें उत्तराध्ययन के ३६, ऋषिभाषित के ४४, सूत्रकृताङ्ग के २३, सूत्रकृताङ्ग प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६, आचाराङ्ग के चूलिका सहित २५ अध्ययन, दशा, कल्प, व्यवहार के २६ अध्ययन आदि का उल्लेख होने से इतना तो निश्चित है कि यह ग्रन्थ इसमें निर्दिष्ट आगमों के स्वरूप के निर्धारित होने के पश्चात् ही बना होगा। पुन: इसमें चतुर्दश गुणस्थानों का जीवस्थान के रूप में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह निश्चित है कि गुणस्थान का यह सिद्धान्त उमास्वाति के पश्चात् अर्थात् ईसा की चतुर्थ शती के बाद ही अस्तित्व में आया है। यदि इसमें जीवठाण के रूप में चौदह गुणस्थानों के उल्लेख को बाद में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रक्षिप्त भी मान लिया जाय तो भी अपनी भाषा-शैली और विषय-वस्तु की दृष्टि से इसका वर्तमान स्वरूप ईसा की ३-४ शती से पहले का नहीं है। हो सकता है उसके कुछ अंश प्राचीन हों, लेकिन आज उन्हें खोज पाना अति कठिन कार्य है। जहाँ तक भगवतीसूत्र का प्रश्न है, विद्वानों के अनुसार इससे अनेक स्तर हैं। इसमें कुछ स्तर अवश्य ही ई०पू० के हैं, किन्तु समवायाङ्ग की भाँति भगवती में भी पर्याप्त प्रक्षेप हुआ है। भगवतीसूत्र में अनेक स्थलों पर जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार, नन्दी आदि परवर्ती आगमों का निर्देश हुआ है। इनके उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि इसके सम्पादन के समय इसमें ये और इसी प्रकार की अन्य सूचनायें दे दी गयी हैं। इससे यह प्रतिफलित होता है कि वल्लभी वाचना में इसमें पर्याप्त रूप से परिवर्धन और संशोधन अवश्य हुआ है, फिर भी इसके कुछ शतकों की प्राचीनता निर्विवाद है। कुछ पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान् इसके प्राचीन एवं परवर्ती स्तरों के पृथक्करण का कार्य कर रहे हैं। उनके निष्कर्ष प्राप्त होने पर ही इसका रचनाकाल निश्चित किया जा सकता है।

उपासकदशा आगम-साहित्य में श्रावकाचार का वर्णन करने वाला प्रथम ग्रन्थ है। स्थानाङ्गसूत्र में उल्लिखित इसके दस अध्ययनों और उनकी विषय-वस्तु में किसी प्रकार के परिवर्तन होने के सङ्केत नहीं मिलते हैं। अत: मैं समझता हूँ कि यह ग्रन्थ भी अपने वर्तमान स्वरूप में ई०पू० की ही रचना है और इसके किसी भी अध्ययन का विलोप नहीं हुआ है। श्रावकव्रतों को अणुव्रत और शिक्षाव्रत के रूप में वर्गीकृत करने के सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्टत: इसका अनुसरण देखा जाता है। अत: यह तत्त्वार्थ से अर्थात् ईसा की तीसरी शती से परवर्ती नहीं हो सकता है। ज्ञातव्य है कि अनुत्तरौपपातिक में उपलब्ध वर्गीकरण परवर्ती है, क्योंकि उसमें गुणव्रत की अवधारणा आ गयी है।

अङ्ग-आगम-साहित्य में अन्तकृद्दशा की विषय-वस्तु का उल्लेख हमें स्थानाङ्ग सूत्र में मिलता है। इसमें इसके निम्न दस अध्याय उल्लिखित हैं— नमि, मातङ्ग, सोमिल, रामपुत्त, सुदर्शन, जमालि, भगालि, किंकिम, पल्लतेतिय, फाल अम्बडपुत्र। इनमें से सुदर्शन सम्बन्धी कुछ अंश को छोड़कर वर्तमान अन्तकृद्दशासूत्र में ये कोई भी अध्ययन नहीं मिलते हैं। किन्तु समवायाङ्ग और नन्दीसूत्र में क्रमश: इसके सात और आठ वर्गों के उल्लेख मिलते हैं। इससे यह प्रतिफलित होता है कि स्थानाङ्ग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा का प्राचीन अंश विलुप्त हो गया है। यद्यपि समवायाङ्ग और नन्दी में क्रमश: इसके सात एवं आठ वर्गों का उल्लेख होने से इतना तय है कि वर्तमान अन्तकृद्दशा समवायाङ्ग और नन्दी की रचना के समय अस्तित्व में आ गया था। अत: इसका वर्तमान स्वरूप ईसा की चौथी-पाँचवीं शती का है। उसके प्राचीन दस अध्यायों के जो उल्लेख हमें स्थानाङ्ग में मिलते हैं, उन्हीं दस अध्ययनों के उल्लेख दिगम्बर एवं यापनीय परम्परा के ग्रन्थों में यथा अकलङ्क के राजवार्तिक, धवला, अङ्गप्रज्ञप्ति आदि में भी मिलते हैं। इससे यह फलित होता है कि इस अङ्ग-आगम के प्राचीन स्वरूप के विलुप्त हो जाने के पश्चात् भी माथुरी वाचना की अनुश्रुति से स्थानाङ्ग में उल्लिखित इसके दस अध्यायों की चर्चा होती रही है। हो सकता है कि इसकी माथुरी वाचना में ये दस अध्ययन रहे होंगे।

बहुत कुछ यही स्थिति अनुत्तरौपपातिकदशा की है। स्थानाङ्गसूत्र की सूचना के अनुसार इसमें निम्न दस अध्ययन कहे गये हैं— १. ऋषिदास, २. धन्य, ३. सुनक्षत्र, ४. कार्तिक, ५. संस्थान, ६. शालिभद्र, ७. आनन्द, ८. तेतली, ९. दशार्णभद्र, १०. अतिमुक्ति। उपलब्ध अनुत्तरौपपातिकदशा में तीन वर्ग हैं, उसमें द्वितीय वर्ग में ऋषिदास, धन्य और सुनक्षत्र ऐसे तीन अध्ययन मिलते हैं इनमें भी धन्य का अध्ययन ही विस्तृत है। सुनक्षत्र और ऋषिदास के विवरण अत्यन्त संक्षेप में ही हैं। स्थानाङ्ग में उल्लिखित शेष सात अध्याय वर्तमान अनुत्तरौपपातिकसूत्र में उपलब्ध नहीं होते। इससे यह प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ वलभी वाचना के समय ही अपने वर्तमान स्वरूप में आया होगा।

जहाँ तक प्रश्नव्याकरणदशा का प्रश्न है इतना निश्चित है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु न केवल स्थानाङ्ग में उल्लिखित विषय-वस्तु से भिन्न है, अपितु नन्दी और समवायाङ्ग की उल्लिखित विषय-वस्तु से भी भिन्न है। प्रश्नव्याकरण की वर्तमान आस्रव और संवर द्वार वाली विषय-वस्तु का सर्वप्रथम निर्देश नन्दीचूर्णि में मिलता है। इससे यह फलित होता है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरणसूत्र नन्दी के पश्चात् ई०सन् की पाँचवीं-छठी शती के मध्य ही कभी निर्मित हुआ है। इतना तो निश्चित है कि नन्दी के रचयिता देववाचक के सामने यह ग्रन्थ अपने वर्तमान स्वरूप में नहीं था। किन्तु ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृद्दशा और अनुत्तरौपपातिकदशा में जो परिवर्तन हुए थे, वे नन्दीसूत्रकार के पूर्व हो चुके थे, क्योंकि वे उनके इस परिवर्तित स्वरूप का विवरण देते हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मैंने अपने एक स्वतन्त्र लेख में की है जो 'जैन आगम-साहित्य', सम्पादक डॉ० के०आर०चन्द्रा, अहमदाबाद, से प्रकाशित है।*

इसी प्रकार जब हम उपाङ्ग-साहित्य की ओर आते हैं तो उसमें रायपसेणियसुत्त में राजा पसेणीय द्वारा आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो प्रश्न उठाये गये हैं उनका विवरण हमें पालित्रिपिटक में भी उपलब्ध होता है। इससे यह फलित होता है कि औपपातिक का यह अंश कम से कम पालित्रिपिटक जितना प्राचीन तो है ही। जीवाजीवाभिगम के रचनाकाल को निश्चित रूप से बता पाना तो कठिन है, किन्तु इसकी विषय-वस्तु के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह ग्रन्थ ई०पू० की रचना होनी चाहिये। उपाङ्ग-साहित्य में प्रज्ञापनासूत्र को तो स्पष्टत: आर्य श्याम की रचना माना जाता है। आर्य श्याम का आचार्यकाल वी०नि०सं० ३३५-३७६ के मध्य माना जाता है। अत: इसका रचनाकाल ई०पू० द्वितीय शताब्दी के लगभग निश्चित होता है।

इसी प्रकार उपाङ्ग वर्ग के अन्तर्गत वर्णित चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति— ये तीन प्रज्ञप्तियाँ भी प्राचीन ही हैं। वर्तमान में चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति में कोई भेद नहीं दिखाई देता है। किन्तु सूर्यप्रज्ञप्ति में ज्योतिष सम्बन्धी जो चर्चा है वह वेदाङ्ग-ज्योतिष के

१. इस ग्रन्थ में भी यह लेख प्रकाशित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समान है, इससे इसकी प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। यह ग्रन्थ किसी भी स्थिति में ई॰पू॰ प्रथम शती से परवर्ती नहीं है। इन तीनों प्रज्ञप्तियों को दिगम्बर-परम्परा में भी दृष्टिवाद के एक अंश— परिकर्म के अन्तर्गत माना जाता है। अत: यह ग्रन्थ भी दृष्टिवाद के पूर्ण विच्छेद एवं सम्प्रदाय-भेद के पूर्व का ही होना चाहिये।

छेदसूत्रों में दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार को स्पष्टत: भद्रबाहु प्रथम की रचना माना गया है। अत: इसका काल ई.पू. चतुर्थ-तृतीय शताब्दी के बाद का भी नहीं हो सकता है। ये सभी ग्रन्थ अचेल-परम्परा में भी मान्य रहे हैं। इसी प्रकार निशीथ भी अपने मूल रूप में तो आचाराङ्ग की ही एक चूला रहा है, बाद में उसे पृथक् किया गया है। अत: इसकी प्राचीनता में भी सन्देह नहीं किया जा सकता। याकोबी, शुब्रिंग आदि पाश्चात्य विद्वानों ने एकमत से छेदसूत्रों की प्राचीनता स्वीकार की है। इस वर्ग में मात्र जीतकल्प ही ऐसा ग्रन्थ है जो निश्चित ही परवर्ती है। पं०दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार यह आचार्य जिनभद्र की कृति है। ये जिनभद्र विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता हैं। इनका काल अनेक प्रमाणों से ई॰सन् की सातवीं शती निश्चित है। अत: जीतकल्प का भी काल वही होना चाहिये। मेरी दृष्टि में पं॰ दलसुखभाई की यह मान्यता निरापद नहीं है, क्योंकि दिगम्बर-परम्परा में इन्द्रनन्दि के छेदपिण्डशास्त्र में जीतकल्प के अनुसार प्रायश्चित्त देने का विधान किया गया है, इससे फलित होता है कि यह ग्रन्थ स्पष्ट रूप से सम्प्रदाय-भेद से पूर्व की रचना होनी चाहिये। हो सकता है इसके कर्ता जिनभद्र विशेषावश्यक के कर्त्ता जिनभद्र से भिन्न हों और उनके पूर्ववर्ती भी हों। किन्तु इतना निश्चित है कि नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में जो आगमों की सूची मिलती है उसमें जीतकल्प का नाम नहीं है। अत: यह उसके बाद की ही रचना होगी। इसका काल भी ई॰सन् की पाँचवीं शती का उत्तरार्द्ध होना चाहिये। इसकी दिगम्बर और यापनीय परम्परा में मान्यता तभी सम्भव हो सकती है जब यह स्पष्ट रूप से संघभेद के पूर्व निर्मित हुआ हो। स्पष्ट संघ-भेद पाँचवीं शती के उत्तरार्ध में अस्तित्व में आया है। छेदवर्ग में महानिशीथ का उद्धार आचार्य हरिभद्र ने किया था, यह सुनिश्चित है। आचार्य हरिभद्र का काल ई॰सन् की आठवीं शती माना जाता है। अत: यह ग्रन्थ उसके पूर्व ही निर्मित हुआ होगा। हरिभद्र इसके उद्धारक अवश्य हैं, किन्तु रचयिता नहीं। मात्र इतना माना जा सकता है कि उन्होंने इसके त्रुटित भाग की रचना की हो। इस प्रकार इसका काल भी आठवीं शती से पूर्व का ही है।

मूलसूत्रों के वर्ग में दशवैकालिक को आर्य शय्यंभव की कृति माना जाता है। इनका काल महावीर के निर्वाण के ७५ वर्ष बाद का है। अत: यह ग्रन्थ ई.पू. पाँचवीं-चौथी शताब्दी की रचना है। उत्तराध्ययन यद्यपि एक सङ्कलन है, किन्तु इसकी प्राचीनता में कोई शंका नहीं है। इसकी भाषा-शैली तथा विषय-वस्तु के आधार पर विद्वानों ने इसे ई॰पू॰ चौथी-तीसरी शती का ग्रन्थ माना है। मेरी दृष्टि में यह पूर्व प्रश्नव्याकरण का ही एक विभाग था। इसकी अनेक गाथाएँ तथा कथानक पालित्रिपिटक साहित्य, महाभारत आदि में यथावत् मिलते हैं। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन यापनीय और दिगम्बर परम्परा में मान्य रहे हैं, अत: ये भी संघ-भेद या सम्प्रदाय-भेद के पूर्व की रचना हैं। अत: इनकी प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। 'आवश्यक' श्रमणों की दैनन्दिन क्रियाओं का ग्रन्थ था अत: इसके कुछ प्राचीन पाठ तो भगवान् महावीर के समकालिक ही माने जा सकते हैं। चूँकि दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और आवश्यक के सामायिक आदि विभाग दिगम्बर और यापनीय परम्परा में भी मान्य रहे हैं, अत: इनकी प्राचीनता असंदिग्ध है।

प्रकीर्णक-साहित्य में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख नन्दीसूत्र में है। अत: ये सभी नन्दीसूत्र से तो प्राचीन हैं ही, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। पुन: आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, मरणसमाधि आदि प्रकीर्णकों की सैंकड़ों गाथाएँ यापनीय-ग्रन्थ मूलाचार और भगवतीआराधना में पायी जाती हैं, मूलाचार एवं भगवतीआराधना भी छठी शती से परवर्ती नहीं हैं। अत: इन नौ प्रकीर्णकों को तो ई॰सन् की चौथी-पाँचवीं शती के परवर्ती नहीं माना जा सकता। यद्यपि वीरभद्र द्वारा रचित कुछ प्रकीर्णक नवीं-दसवीं शती की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार चूलिकासूत्रों के अन्तर्गत नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्रों में भी अनुयोगद्वार को कुछ विद्वानों ने आर्यरक्षित के समय का माना है। अत: वह ई॰सन् की प्रथम शती का ग्रन्थ होना चाहिए। नन्दीसूत्र के कर्ता देववाचक देवर्धि से पूर्ववर्ती हैं अत: उनका काल भी पाँचवीं शताब्दी से परवर्ती नहीं हो सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपलब्ध आगमों में प्रक्षेपों को छोड़कर अधिकांश ग्रन्थ तो ई॰पू॰ के हैं। यह तो एक सामान्य चर्चा हुई, अभी इन ग्रन्थों में से प्रत्येक के काल-निर्धारण के लिए स्वतन्त्र और सम्प्रदाय-निरपेक्ष दृष्टि से अध्ययन की आवश्यकता बनी हुई है। आशा है जैन-विद्वानों की भावी पीढ़ी इस दिशा में कार्य करेगी।

आगमों की वाचनाएँ

यह सत्य है कि वर्तमान में उपलब्ध श्वेताम्बर-मान्य अर्धमागधी आगमों के अन्तिम स्वरूप का निर्धारण वलभी वाचना में वी॰नि॰संवत् ९८० या ९९३ में हुआ किन्तु उसके पूर्व भी आगमों की वाचनाएँ तो होती रही हैं। जो ऐतिहासिक साक्ष्य हमें उपलब्ध हैं उनके अनुसार अर्धमागधी आगमों की पाँच वाचनाएँ होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

प्रथम वाचना

प्रथम वाचना महावीर के निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् हुई। परम्परागत मान्यता तो यह है कि मध्यदेश में द्वादशवर्षीय भीषण अकाल के कारण कुछ मुनि काल-कवलित हो गये और कुछ समुद्र के तटवर्ती प्रदेशों की ओर चले गये। अकाल की समाप्ति पर वे मुनिगण वापस लौटे तो उन्होंने यह पाया कि उनका आगम-ज्ञान अंशत: विस्मृत एवं विशृङ्खलित हो गया है और कहीं-कहीं पाठभेद हो गया है। अत: उस युग के प्रमुख आचार्यों ने पाटलीपुत्र में एकत्रित होकर आगमज्ञान को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। दृष्टिवाद और पूर्व साहित्य का कोई विशिष्ट ज्ञाता वहाँ उपस्थित नहीं था। अत: ग्यारह अङ्ग तो व्यवस्थित किये गये, किन्तु दृष्टिवाद और उसमें अन्तर्निहित साहित्य को व्यवस्थित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं किया जा सका, क्योंकि उसके विशिष्ट ज्ञाता भद्रबाहु उस समय नेपाल में थे। संघ की विशेष प्रार्थना पर उन्होंने स्थूलिभद्र आदि कुछ मुनियों को पूर्व साहित्य की वाचना देना स्वीकार किया। स्थूलिभद्र भी उनसे दस पूर्वों तक का ही अध्ययन अर्थ सहित कर सके और शेष चार पूर्वों का मात्र शाब्दिक ज्ञान ही प्राप्त कर पाये।

इस प्रकार पाटलीपुत्र की वाचना में द्वादश अङ्गों को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न अवश्य किया गया, किन्तु उनमें एकादश अङ्ग ही सुव्यवस्थित किये जा सके। दृष्टिवाद और उसमें अन्तर्भुक्त पूर्व साहित्य को पूर्णत: सुरक्षित नहीं किया जा सका और उसका क्रमश: विलोप होना प्रारम्भ हो गया। फलत: उसकी विषय-वस्तु को लेकर अङ्गबाह्य ग्रन्थ निर्मित किये जाने लगे।

द्वितीय वाचना

आगमों की द्वितीय वाचना ई॰पू॰ द्वितीय शताब्दी में महावीर के निर्वाण के लगभग ३०० वर्ष पश्चात् उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर सम्राट् खारवेल के काल में हुई थी। इस वाचना के सन्दर्भ में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती है— मात्र यही ज्ञात होता है कि इसमें श्रुत के संरक्षण का प्रयत्न हुआ था। वस्तुत: उस युग में आगमों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा गुरु-शिष्य के माध्यम से मौखिक रूप में ही चलती थी। अत: देशकालगत प्रभावों तथा विस्मृति-दोष के कारण उसमें स्वाभाविक रूप से भिन्नता आ जाती थी। अत: वाचनाओं के माध्यम से उनके भाषायी स्वरूप तथा पाठभेद को सुव्यवस्थित किया जाता था। कालक्रम में जो स्थविरों के द्वारा नवीन ग्रन्थों की रचना होती थी, उस पर भी विचार करके उन्हें इन्हीं वाचनाओं में मान्यता प्रदान की जाती थी। इसी प्रकार परिस्थितिवश आचार-नियमों में एवं उनके आगमिक सन्दर्भों की व्याख्या में जो अन्तर आ जाता था, उसका निराकरण भी इन्हीं वाचनाओं में किया जाता था। खण्डगिरि पर हुई इस द्वितीय वाचना में ऐसे किन विवादों का समाधान खोजा गया था— इसकी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

तृतीय वाचना

आगमों की तृतीय वाचना वी॰नि॰संवत् ८२७ अर्थात् ई॰सन् की तीसरी शताब्दी में मथुरा में आर्य स्कंदिल के नेतृत्व में हुई। इसलिए इसे माथुरी वाचना या स्कन्दिली वाचना के नाम से भी जाना जाता है। माथुरी वाचना के सन्दर्भ में दो प्रकार की मान्यताएँ नन्दीचूर्णि में हैं। प्रथम मान्यता के अनुसार सुकाल होने के पश्चात् आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में शेष रहे मुनियों की स्मृति के आधार पर कालिकसूत्रों को सुव्यवस्थित किया गया है। अन्य कुछ का मन्तव्य यह है कि इस काल में सूत्र नष्ट नहीं हुआ था किन्तु अनुयोगधर स्वर्गवासी हो गये थे। अत: एक मात्र जीवित स्कन्दिल ने अनुयोगों का पुन: प्रवर्तन किया।

चतुर्थ वाचना

चतुर्थ वाचना तृतीय वाचना के समकालीन ही है। जिस समय उत्तर, पूर्व और मध्य क्षेत्र में विचरण करने वाला मुनि-संघ मथुरा में एकत्रित हुआ, उसी समय दक्षिण-पश्चिम में विचरण करने वाला मुनि-संघ वल्लभी (सौराष्ट्र) में आर्य नागार्जुन के नेतृत्व में एकत्रित हुआ। इसे नागार्जुनीय वाचना भी कहते हैं।

आर्य स्कन्दिल की माथुरी वाचना और आर्य नागार्जुन की वल्लभी वाचना समकालिक हैं। नन्दीसूत्र स्थविरावली में आर्य स्कन्दिल और नागार्जुन के मध्य आर्य हिमवन्त का उल्लेख है। इससे यह फलित होता है कि आर्य स्कन्दिल और नागार्जुन समकालिक ही रहे होंगे। नन्दी स्थविरावली में आर्य स्कन्दिल के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि उनका अनुयोग आज भी दक्षिणार्द्ध भरत क्षेत्र में प्रचलित है। इसका एक तात्पर्य यह भी हो सकता है कि उनके द्वारा सम्पादित आगम दक्षिण भारत में प्रचलित थे। ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ-संघ के विभाजन के फलस्वरूप जिस यापनीय सम्प्रदाय का विकास हुआ था उसमें आर्य स्कन्दिल के द्वारा सम्पादित आगम ही मान्य किये जाते थे और इस यापनीय सम्प्रदाय का प्रभाव-क्षेत्र मध्य और दक्षिण भारत था। आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन ने तो स्त्री-निर्वाण प्रकरण में स्पष्ट रूप से मथुरागम का उल्लेख किया है। अत: यह स्पष्ट है कि यापनीय सम्प्रदाय जिन आगमों को मान्य करता था, वे माथुरी वाचना के आगम थे। मूलाचार, भगवती-आराधना आदि यापनीय आगमों में वर्तमान में श्वेताम्बर-मान्य आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, व्यवहार, संग्रहणीसूत्रों, निर्युक्तियों आदि की सैकड़ों गाथाएँ आज भी उपलब्ध हो रही हैं। इससे यही फलित होता है कि यापनीयों के पास माथुरी वाचना के आगम थे। हम यह भी पाते हैं कि यापनीय ग्रन्थों में जो आगमों की गाथाएँ मिलती हैं वे न तो अर्धमागधी में हैं, न महाराष्ट्री प्राकृत में, अपितु वे शौरसेनी में हैं। मात्र यही नहीं अपराजित की भगवतीआराधना की टीका में आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र, निशीथ आदि से जो अनेक अवतरण दिये गये हैं वे सभी अर्धमागधी में न होकर शौरसेनी में हैं।

इससे यह फलित होता है कि स्कंदिल की अध्यक्षता वाली माथुरी वाचना में आगमों की अर्धमागधी भाषा पर शौरसेनी का प्रभाव आ गया था। दूसरे माथुरी वाचना के आगमों के जो भी पाठ भगवतीआराधना की टीका आदि में उपलब्ध होते हैं, उनमें वल्लभी वाचना के वर्तमान आगमों से पाठभेद भी देखा जाता है। साथ ही अचेलकत्व की समर्थक कुछ गाथाएँ और गद्यांश भी पाये जाते हैं। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में अनुयोगद्वारसूत्र, प्रकीर्णकों, निर्युक्ति आदि की कुछ गाथाएँ क्वचित् पाठभेद के साथ मिलती हैं— सम्भवत: उन्होंने ये गाथाएँ यापनीयों के माथुरी वाचना के आगमों से ही ली होंगीं।

एक ही समय में आर्य स्कन्दिल द्वारा मथुरा में और नागार्जुन द्वारा वल्लभी में वाचना किये जाने की एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि दोनों में किन्हीं बातों को लेकर मतभेद थे। सम्भव है कि इन मतभेदों में वस्त्र-पात्र आदि सम्बन्धी प्रश्न भी रहे हों। पं॰ कैलाशचन्द्रजी ने जैन-साहित्य का इतिहास— पूर्व पीठिका (पृ॰ ५००) में माथुरी वाचना की समकालीन वल्लभी वाचना के प्रमुख रूप में देवर्धिगणि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का उल्लेख किया है, यह उनकी भ्रान्ति है। वास्तविकता तो यह है कि माथुरी वाचना का नेतृत्व आर्य स्कन्दिल और वल्लभी की प्रथम वाचना का नेतृत्व आर्य नागार्जुन कर रहे थे और ये दोनों समकालिक थे, यह बात हम नन्दीसूत्र के प्रमाण से पूर्व में ही कह चुके हैं। यह स्पष्ट है कि आर्य स्कन्दिल और नागार्जुन की वाचना में मतभेद था।

पं०कैलाशचन्द्रजी ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि वल्लभी वाचना नागार्जुन की थी तो देवर्धि ने वल्लभी में क्या किया? साथ ही उन्होंने यह भी कल्पना कर ली कि वादिवेतालशान्तिसूरि वल्लभी की वाचना में नागार्जुनीयों का पक्ष उपस्थित करने वाले आचार्य थे। हमारा यह दुर्भाग्य है कि दिगम्बर-विद्वानों ने श्वेताम्बर-साहित्य का समग्र एवं निष्पक्ष अध्ययन किये बिना मात्र यत्र-तत्र उद्धृत या अंशत: पठित अंशों के आधार पर अनेक भ्रान्तियाँ खड़ी कर दीं। इसके प्रमाण के रूप में उनके द्वारा उद्धृत मूल गाथा में ऐसा कहीं कोई उल्लेख ही नहीं है कि शान्तिसूरि वल्लभी वाचना के समकालिक थे। यदि हम आगमिक व्याख्याओं को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि अनेक वर्षों तक नागार्जुनीय और देवर्धि की वाचनाएँ साथ-साथ चलती रही हैं, क्योंकि इनके पाठान्तरों का उल्लेख मूल ग्रन्थों में कम और टीकाओं में अधिक हुआ है।

पञ्चम वाचना

वी॰नि॰ के ९८० वर्ष पश्चात् ई॰ सन् की पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध में आर्य स्कन्दिल की माथुरी वाचना और आर्य नागार्जुन की वल्लभी वाचना के लगभग १५० वर्ष पश्चात् देवर्धिगणिक्षमाश्रमण की अध्यक्षता में पुन: वल्लभी में एक वाचना हुई। इस वाचना में मुख्यत: आगमों को पुस्तकारुढ़ करने का कार्य किया गया। ऐसा लगता है कि इस वाचना में माथुरी और नागार्जुनीय दोनों वाचनाओं को समन्वित किया गया है और जहाँ मतभेद परिलक्षित हुआ वहाँ "नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' ऐसा लिखकर नागार्जुनीय पाठ को भी सम्मिलित किया गया है।

प्रत्येक वाचना के सन्दर्भ में प्राय: यह कहा जाता है कि मध्यदेश में द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण श्रमणसंघ समुद्रतटीय प्रदेशों की ओर चला गया और वृद्ध मुनि, जो इस अकाल में लम्बी यात्रा न कर सके कालगत हो गये। सुकाल होने पर जब मुनिसंघ लौटकर आया तो उसने यह पाया कि इनके श्रुतज्ञान में विस्मृति और विसंगति आ गयी है। प्रत्येक वाचना से पूर्व अकाल की यह कहानी मुझे बुद्धिगम्य नहीं लगती है। मेरी दृष्टि में प्रथम वाचना में श्रमण-संघ के विशृङ्खलित होने का कारण अकाल की अपेक्षा मगध राज्य में युद्ध से उत्पन्न अशांति और अराजकता ही थी क्योंकि उस समय नन्दों के अत्याचारों एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के आक्रमण के कारण मगध में अशांति थी। उसी के फलस्वरूप श्रमण-संघ सुदूर समुद्रीतट की ओर या नेपाल आदि पर्वतीय क्षेत्र की ओर चला गया था। भद्रबाहु की नेपाल-यात्रा का भी सम्भवत: यही कारण रहा होगा।

जो भी उपलब्ध साक्ष्य हैं उनसे यह फलित होता है कि पाटलिपुत्र की वाचना के समय द्वादश अङ्गों को ही व्यवस्थित करने का प्रयत्न हुआ था। उसमें एकादश अङ्ग सुव्यवस्थित हुए और बारहवें दृष्टिवाद, जिसमें अन्य दर्शन एवं महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ की परम्परा का साहित्य समाहित था, इसका सङ्कलन नहीं किया जा सका। इसी सन्दर्भ में स्थूलिभद्र के द्वारा भद्रबाहु के सान्निध्य में नेपाल जाकर चतुर्दश पूर्वों के अध्ययन की बात कही जाती है। किन्तु स्थूलिभद्र भी मात्र दस पूर्वों का ही ज्ञान अर्थ सहित ग्रहण कर सके, शेष चार पूर्वों का केवल शाब्दिक ज्ञान ही प्राप्त कर सके। इसका फलितार्थ यही है कि पाटलीपुत्र की वाचना में एकादश अङ्गों का ही सङ्कलन और सम्पादन हुआ था। किसी भी चतुर्दश पूर्वविद् की उपस्थिति नहीं होने से दृष्टिवाद के सङ्कलन एवं सम्पादन का कार्य नहीं किया जा सका।

उपाङ्ग-साहित्य के अनेक ग्रन्थ जैसे प्रज्ञापना आदि, छेदसूत्रों में आचारदशा, कल्प, व्यवहार आदि तथा चूलिकासूत्रों में नन्दी, अनुयोगद्वार आदि— ये सभी परवर्ती कृति होने से इस वाचना में सम्मिलित नहीं किये गये होंगे। यद्यपि आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थ पाटलीपुत्र की वाचना के पूर्व के हैं, किन्तु इस वाचना में इनका क्या किया गया, यह जानकारी प्राप्त नहीं है। हो सकता है कि सभी साधु-साध्वियों के लिये इनका स्वाध्याय आवश्यक होने के कारण इनके विस्मृत होने का प्रश्न ही न उठा हो।

पाटलीपुत्र-वाचना के बाद दूसरी वाचना उड़ीसा के कुमारी पर्वत (खण्डगिरि) पर खारवेल के राज्य-काल में हुई थी। इस वाचना के सम्बन्ध में मात्र इतना ही ज्ञात है कि इसमें भी श्रुत को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया था। सम्भव है कि इस वाचना में ई॰पू॰ प्रथम शती से पूर्व रचित ग्रन्थों के सङ्कलन और सम्पादन का कोई प्रयत्न किया गया हो।

जहाँ तक माथुरी वाचना का प्रश्न है, इतना तो निश्चित है कि उसमें ई॰सन् की चौथी शती तक के रचित सभी ग्रन्थों के सङ्कलन एवं सम्पादन का प्रयत्न किया गया होगा। इस वाचना के कार्य के सन्दर्भ में जो सूचना मिलती है, उसमें इस वाचना में कालिकसूत्रों को व्यवस्थित करने का निर्देश है। नन्दिसूत्र में कालिकसूत्र को अङ्गबाह्य, आवश्यक व्यतिरिक्त सूत्रों का ही एक भाग बताया गया है। कालिकसूत्रों के अन्तर्गत उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशाश्रुत, कल्प, व्यवहार, निशीथ तथा वर्तमान में उपाङ्ग के नाम से अभिहित अनेक ग्रन्थ आते हैं। हो सकता है कि अङ्ग-सूत्रों की जो पाटलीपुत्र की वाचना चली आ रही थी वह मथुरा में मान्य रही हो, किन्तु उपाङ्गों में से कुछ को तथा कल्प आदि छेदसूत्रों को सुव्यवस्थित किया गया हो। किन्तु यापनीय-ग्रन्थों की टीकाओं में जो माथुरी वाचना के आगमों के उद्धरण मिलते हैं, उन पर जो शौरसेनी का प्रभाव दिखता है, उससे ऐसा लगता है कि माथुरी वाचना में न केवल कालिक सूत्रों का अपितु उस काल तक रचित सभी ग्रन्थों के सङ्कलन का काम किया गया था। ज्ञातव्य है कि यह माथुरी वाचना अचेलता की पोषक यापनीय-परम्परा में भी मान्य रही है। यापनीय-ग्रन्थों की व्याख्याओं एवं टीकाओं में इस वाचना के आगमों के अवतरण तथा इन आगमों के प्रामाण्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के उल्लेख मिलते हैं। आर्य शाकटायन ने अपने स्त्री-निर्वाण प्रकरण एवं अपने व्याकरण की स्वोपज्ञटीका में न केवल मथुरा-आगम का उल्लेख किया है, अपितु उनकी अनेक मान्यताओं का निर्देश भी किया है तथा अनेक अवतरण भी दिये हैं। इसी प्रकार भगवतीआराधना पर अपराजित की टीका में भी आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन, निशीथ के अवतरण भी पाये जाते हैं, यह हम पूर्व में कह चुके हैं।

आर्य स्कंदिल की माथुरी वाचना वस्तुत: उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ-संघ के सचेल-अचेल दोनों पक्षों के लिये मान्य थी और उसमें दोनों ही पक्षों के सम्पोषक साक्ष्य उपस्थित थे। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि यदि माथुरी वाचना उभय पक्षों को मान्य थी तो फिर उसी समय नागार्जुन की अध्यक्षता में वल्लभी में वाचना करने की क्या आवश्यकता थी। मेरी मान्यता है कि अनेक प्रश्नों पर स्कंदिल और नागार्जुन में मतभेद रहा होगा। इसी कारण से नागार्जुन को स्वतन्त्र वाचना करने की आवश्यकता पड़ी।

इस समस्त चर्चा से पं॰ कैलाशचन्द्रजी के इस प्रश्न का उत्तर भी मिल जाता है कि वल्लभी की दूसरी वाचना में क्या किया गया? एक ओर मुनि श्री कल्याणविजयजी की मान्यता यह है कि वल्लभी में आगमों को मात्र पुस्तकारूढ़ किया गया तो दूसरी ओर पं॰कैलाशचन्द्रजी यह मानते हैं कि वल्लभी में आगमों को नये सिरे से लिखा गया, किन्तु ये दोनों ही मत मुझे एकाङ्गी प्रतीत होते हैं। यह सत्य है कि वल्लभी में न केवल आगमों को पुस्तकारूढ़ किया गया, अपितु उन्हें सङ्कलित एवं सम्पादित भी किया गया किन्तु यह सङ्कलन एवं सम्पादन निराधार नहीं था। न तो दिगम्बर-परम्परा का यह कहना उचित है कि वल्लभी में श्वेताम्बरों ने अपनी मान्यता के अनुरूप आगमों को नये सिरे से रच डाला और न यह कहना ही समुचित होगा कि वल्लभी में जो आगम सङ्कलित किये गये वे अक्षुण्ण रूप से वैसे ही थे जैसे— पाटलीपुत्र आदि की पूर्व वाचनाओं में उन्हें सङ्कलित किया गया था। यह सत्य है कि आगमों की विषय-वस्तु के साथ-साथ अनेक आगम-ग्रन्थ भी कालक्रम में विलुप्त हुए हैं। वर्तमान आगमों का यदि सम्यक् प्रकार से विश्लेषण किया जाय तो इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। आज आचाराङ्ग का सातवाँ अध्ययन विलुप्त है। इसी प्रकार अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक व विपाकदशा के भी अनेक अध्याय आज अनुपलब्ध हैं। नन्दीसूत्र की सूची के अनेक आगम-ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा हमने आगमों के विच्छेद की चर्चा के प्रसङ्ग में की है। ज्ञातव्य है कि देवर्धि की वल्लभी वाचना में न केवल आगमों को पुस्तकारूढ़ किया गया है, अपितु उन्हें सम्पादित भी किया गया है। इस सम्पादन के कार्य में उन्होंने आगमों की अवशिष्ट उपलब्ध विषय-वस्तु को अपने ढङ्ग से पुन: वर्गीकृत भी किया था और परम्परा या अनुश्रुति से प्राप्त आगमों के वे अंश जो उनके पूर्व की वाचनाओं में समाहित नहीं थे, उन्हें समाहित भी किया। उदाहरण के रूप में ज्ञाताधर्मकथा में सम्पूर्ण द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दस वर्ग और अध्ययन इसी वाचना में समाहित किये गये हैं, क्योंकि श्वेताम्बर, यापनीय एवं दिगम्बर-परम्परा के प्रतिक्रमणसूत्र एवं अन्यत्र उसके उन्नीस अध्ययनों का ही उल्लेख मिलता है। प्राचीन ग्रन्थों में द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दस वर्गों का कहीं कोई निर्देश नहीं है।

इसी प्रकार अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा और विपाकदशा के सन्दर्भ में स्थानाङ्ग में जो दस-दस अध्ययन होने की सूचना है उसके स्थान पर इनमें भी जो वर्गों की व्यवस्था की गई वह देवर्धि की ही देन है। उन्होंने इनके विलुप्त अध्यायों के स्थान पर अनुश्रुति से प्राप्त सामग्री जोड़कर इन ग्रन्थों को नये सिरे से व्यवस्थित किया था।

यह एक सुनिश्चित सत्य है कि आज प्रश्नव्याकरण की आस्रव-संवर द्वार सम्बन्धी जो विषय-वस्तु उपलब्ध है वह किसके द्वारा सङ्कलित व सम्पादित है यह निर्णय करना कठिन कार्य है किन्तु यदि हम यह मानते हैं कि नन्दीसूत्र के रचयिता देवर्धि न होकर देववाचक हैं, जो देवर्धि से पूर्व के हैं तो यह कल्पना भी की जा सकती है कि देवर्धि ने आस्रव व संवर द्वार सम्बन्धी विषय-वस्तु को लेकर प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषय-वस्तु का जो विच्छेद हो गया था, उसकी पूर्ति की होगी। इस प्रकार ज्ञाताधर्म से लेकर विपाकसूत्र तक के छ: अङ्ग-आगमों में जो आंशिक या सम्पूर्ण परिवर्तन हुए हैं, वे देवर्धि के द्वारा ही किये हुए माने जा सकते हैं। यद्यपि यह परिवर्तन उन्होंने किसी पूर्व परम्परा या अनुश्रुति के आधार पर ही किया होगा यह विश्वास किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त देवर्धि ने एक यह महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया कि जहाँ अनेक आगमों में एक ही विषय-वस्तु का विस्तृत विवरण था वहाँ उन्होंने एक स्थल पर विस्तृत विवरण रखकर अन्यत्र उस ग्रन्थ का निर्देश कर दिया। हम देखते हैं कि भगवती आदि कुछ प्राचीन स्तरों के आगमों में भी, उन्होंने प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार जैसे परवर्ती आगमों का निर्देश करके आगमों में विषय-वस्तु के पुनरावर्तन को कम किया। इसी प्रकार जब एक ही आगम में कोई विवरण बार-बार आ रहा था तो उस विवरण के प्रथम शब्द के बाद 'जाव' शब्द रखकर अन्तिम शब्द का उल्लेख कर उसे संक्षिप्त बना दिया। इसके साथ ही उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ जो यद्यपि परवर्तीकाल की थीं, उन्हें भी आगमों में दे दिया जैसे स्थानाङ्गसूत्र में सात निह्नवों और सात गणों का उल्लेख। इस प्रकार वल्लभी की वाचना में न केवल आगमों को पुस्तकारूढ़ किया गया, अपितु उनकी विषय-वस्तु को सुव्यवस्थित और सम्पादित भी किया गया। सम्भव है कि इस सन्दर्भ में प्रक्षेप और विलोपन भी हुआ होगा, किन्तु यह सभी अनुश्रुति या परम्परा के आधार पर किया गया था अन्यथा आगमों को मान्यता न मिलती।

सामान्यतया यह माना जाता है कि वाचनाओं में केवल अनुश्रुति से प्राप्त आगमों को ही सङ्कलित किया जाता था, किन्तु मेरी दृष्टि में वाचनाओं में न केवल आगम-पाठों को सम्पादित एवं सङ्कलित किया जाता था, अपितु उनमें नवनिर्मित ग्रन्थों को मान्यता भी प्रदान की जाती थी और जो आचार और विचार सम्बन्धी मतभेद होते थे उन्हें समन्वित या निराकृत भी किया जाता था। इसके अतिरिक्त इन वाचनाओं में वाचना-स्थलों की अपेक्षा से आगमों के भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदाहरण के रूप में आगम पटना अथवा उड़ीसा के कुमारी पर्वत (खण्डगिरि) में सुव्यवस्थित किये गये थे, उनकी भाषा अर्धमागधी ही रही, किन्तु जब वे आगम मथुरा और वल्लभी में पुन: सम्पादित किये गये तो उनमें भाषिक परिवर्तन आ गये। माथुरी वाचना में जो आगमों का स्वरूप तय हुआ था, उस पर व्यापक रूप से शौरसेनी का प्रभाव आ गया था। दुर्भाग्य से आज हमें माथुरी वाचना के आगम उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु इन आगमों के जो उद्धृत अंश उत्तर भारत की अचेल-धारा यापनीय-संघ के ग्रन्थों में और उनकी टीकाओं में उद्धृत मिलते हैं, उनमें हम यह पाते हैं कि भावगत समानता के होते हुए भी शब्द-रूपों और भाषिक स्वरूप में भिन्नता है। आचाराङ्ग उत्तराध्ययन, निशीथ, कल्प, व्यवहार आदि से जो अंश भगवतीआराधना की टीका में उद्धृत हैं वे अपने भाषिक स्वरूप और पाठभेद की अपेक्षा से वल्लभी के आगमों से किञ्चित् भिन्न हैं।

अत: इन वाचनाओं के कारण आगमों में न केवल भाषिक परिवर्तन हुए, अपितु पाठान्तर भी अस्तित्व में आये हैं। वल्लभी की अन्तिम वाचना में वल्लभी की ही नागार्जुनीय वाचना के पाठान्तर तो लिये गये, किन्तु माथुरी वाचना के पाठान्तर समाहित नहीं हैं। यद्यपि कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वल्लभी की देवर्धि-वाचना का आधार माथुरी वाचना के आगम थे और यही कारण था कि उन्होंने नागार्जुनीय वाचना के पाठान्तर दिये हैं। किन्तु मेरा मन्तव्य इससे भिन्न है। मेरी दृष्टि में उनकी वाचना का आधार भी परम्परा से प्राप्त नागार्जुनीय वाचना के पूर्व के आगम रहे होंगे, किन्तु जहाँ उन्हें अपनी परम्परागत वाचना का नागार्जुनीय वाचना से मतभेद दिखायी दिया, वहाँ उन्होंने नागार्जुनीय वाचना का उल्लेख कर दिया, क्योंकि माथुरी वाचना स्पष्टत: शौरसेनी से प्रभावित थी, दूसरे उस वाचना के आगमों के जो भी अवतरण आज मिलते हैं उनमें कुछ वर्तमान आगमों की वाचना से मेल नहीं खाते हैं। उनसे यही फलित होता है कि देवर्धि की वाचना का आधार स्कंदिल की वाचना तो नहीं रही है। तीसरे माथुरी वाचना के अवतरण आज यापनीय ग्रन्थों में मिलते हैं, उनसे इतना तो फलित होता है कि माथुरी वाचना के आगमों में भी वस्त्र-पात्र सम्बन्धी एवं स्त्री की तद्भव मुक्ति के उल्लेख तो थे, किन्तु उनमें अचेलता को उत्सर्ग-मार्ग माना गया था। यापनीय ग्रन्थों में उद्धृत, अचेलपक्ष के सम्पोषक कुछ अवतरण तो वर्तमान वल्लभी वाचना के आगमों यथा आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध आदि में मिलते हैं, किन्तु कुछ अवतरण वर्तमान वाचना में नहीं मिलते हैं। अत: माथुरी वाचना के पाठान्तर वल्लभी की देवर्धि की वाचना में समाहित नहीं हुए हैं, इसकी पुष्टि होती है। मुझे ऐसा लगता है कि वल्लभी की देवर्धि की वाचना का आधार माथुरी वाचना के आगम न होकर उनकी अपनी ही गुरु-परम्परा से प्राप्त आगम रहे होंगे। मेरी दृष्टि में उन्होंने नागार्जुनीय वाचना के ही पाठान्तर अपनी वाचना में समाहित किये— क्योंकि दोनों में भाषा एवं विषय-वस्तु दोनों ही दृष्टि से कम ही अन्तर था। माथुरी वाचना के आगम या तो उन्हें उपलब्ध ही नहीं थे अथवा भाषा एवं विषय-वस्तु दोनों की अपेक्षा भिन्नता अधिक होने से उन्होंने उसे आधार न बनाया हो। फिर भी देवर्धि को जो आगम-परम्परा से प्राप्त थे, उनका और माथुरी वाचना के आगमों का मूलस्रोत तो एक ही था। हो सकता है कि कालक्रम में भाषा एवं विषय-वस्तु की अपेक्षा दोनों में क्वचित् अन्तर आ गये हों। अत: यह दृष्टिकोण भी समुचित नहीं होगा कि देवर्धि की वल्लभी वाचना के आगम माथुरी वाचना के आगमों से नितान्त भिन्न थे।

यापनीयों के आगम

यापनीय-संघ के आचार्य आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, निशीथ, व्यवहार, आवश्यक आदि आगमों को मान्य करते थे। इस प्रकार आगमों के विच्छेद होने की जो दिगम्बर मान्यता है, वह उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। यापनीय-आचार्यों द्वारा निर्मित किसी भी ग्रन्थ में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि अङ्गादि-आगम विच्छिन्न हो गये हैं। वे आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, कल्प आदि को अपनी परम्परा के ग्रन्थों के रूप में उद्धृत करते थे। इस सम्बन्ध में आदरणीय पं॰नाथूराम प्रेमी (जैन-साहित्य और इतिहास, पृ॰ ९१) का यह कथन द्रष्टव्य है— ''अक्सर ग्रन्थकार किसी मत का खण्डन करने के लिए उसी मत के ग्रन्थों का हवाला दिया करते हैं और अपने सिद्धान्त को पुष्ट करते हैं। परन्तु इस टीका (अर्थात् भगवती-आराधना की विजयोदया टीका) में ऐसा नहीं है, इसमें तो टीकाकार ने अपने ही आगमों का हवाला देकर अचेलता सिद्ध की है।''

आगमों के अस्तित्व को स्वीकार कर उनके अध्ययन और स्वाध्याय सम्बन्धी निर्देश भी यापनीय-ग्रन्थ मूलाचार में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होते हैं। मूलाचार (५/८०-८२) में चार प्रकार के आगम-ग्रन्थों का उल्लेख है— १ गणधर कथित, २. प्रत्येकबुद्ध कथित, ३. श्रुतकेवलि-कथित और ४. अभिन्न दशपूर्वी कथित।

इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि संयमी पुरुषों एवं स्त्रियों अर्थात् मुनियों एवं आर्यिकाओं के लिए अस्वाध्यायकाल में इनका स्वाध्याय करना वर्जित है, किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका अस्वाध्यायकाल में पाठ किया जा सकता है, जैसे---आराधना (भगवती आराधना या आराधनापताका), निर्युक्ति , मरणविभक्ति, संग्रह (पंचसंग्रह या संग्रहणीसूत्र), स्तुति (देविंदत्थु), प्रत्याख्यान (आउरपच्चक्खाण एवं महापच्चक्खाण), धर्मकथा (ज्ञाताधर्मकथा) तथा ऐसे ही अन्य ग्रन्थ।

यहाँ पर चार प्रकार के आगम-ग्रन्थों का जो उल्लेख हुआ है, उस पर थोड़ी विस्तृत चर्चा अपेक्षित है, क्योंकि मूलाचार की मूलगाथा में मात्र इन चार प्रकार के सूत्रों का उल्लेख हुआ है। उसमें इन ग्रन्थों का नाम-निर्देश नहीं है। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दि न तो यापनीय परम्परा से सम्बद्ध थे और न उनके सम्मुख ये ग्रन्थ ही थे। अत: इस प्रसंग में उनकी प्रत्येक-बुद्धकथित की व्याख्या पूर्णत: भ्रान्त ही है। मात्र यही नहीं, अगली गाथा की टीका में उन्होंने ''थुदि'' ''पच्चक्खाण'' एवं ''धम्मकहा'' को जिन ग्रन्थों से समीकृत किया है वह तो और भी अधिक भ्रामक है। आश्चर्य है कि वे ''थुदि'' से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवागमस्तोत्र और परमेष्ठिस्तोत्र को समीकृत करते हैं, जबकि मूलाचार का मन्तव्य अन्य ही है। जहाँ तक गणधरकथित ग्रन्थों का प्रश्न है वहाँ लेखक का तात्पर्य आचारांग, सूत्रकृतांग आदि अंग-ग्रन्थों से है, प्रत्येकबुद्धकथित ग्रन्थों से तात्पर्य प्रश्नव्याकरण, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित आदि से है, क्योंकि ये ग्रन्थ प्रत्येकबुद्धकथित माने जाते हैं। ये ग्रन्थ प्रत्येकबुद्धकथित हैं, ऐसा स्पष्ट उल्लेख भी समवायांग, उत्तराध्ययननिर्युक्ति आदि में है। श्रुतकेवलिकथित ग्रन्थों से तात्पर्य आचार्य शय्यम्भवरचित दशवैकालिक, आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) रचित बृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कन्ध (आयारदसा), व्यवहार आदि से है तथा अभिन्न दशपूर्वीकथित ग्रन्थों से उनका तात्पर्य कम्मपयडी आदि "पूर्व" साहित्य के ग्रन्थों से है। यहाँ स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि यदि यापनीय-परम्परा में ये ग्रन्थ विच्छिन्न माने जाते, तो फिर इनके स्वाध्याय का निर्देश लगभग ईसा की छठी शताब्दी के ग्रन्थ मूलाचार में कैसे हो पाता। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार तो वीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् अर्थात् ईसा की दूसरी शती में आचारांग धारियों की परम्परा भी समाप्त हो गई थी फिर वीरनिर्वाण के एक हजार वर्ष पश्चात् भी आचारांग आदि के स्वाध्याय करने का निर्देश देने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। ज्ञातव्य है कि मूलाचार की यही गाथा कुन्दकुन्द के सुत्तपाहुड में भी मिलती है, किन्तु कुन्दकुन्द आगमों के उपर्युक्त प्रकारों का उल्लेख करने के पश्चात् उनकी स्वाध्याय-विधि के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते हैं। जबकि मूलाचार स्पष्ट रूप से उनके स्वाध्याय का निर्देश करता है। मात्र यही नहीं मूलाचार में आगमों के अध्ययन की उपधान-विधि अर्थात् तपपूर्वक आगमों के अध्ययन करने की विधि का भी उल्लेख है। आगमों के अध्ययन की यह उपधान-विधि श्वेताम्बरों में आज भी प्रचलित है। विधिमार्गप्रपा (पृ० ४९-५१) में इसका विस्तृत उल्लेख है। इससे यह भी स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाता है कि मूलाचार आगमों को विच्छिन्न नहीं मानता था। यापनीय-परम्परा में ये अंग आगम और अंगबाह्य आगम प्रचलन में थे, इसका एक प्रमाण यह भी है कि नवीं शताब्दी में यापनीय-आचार्य अपराजित भगवती-आराधना की टीका में न केवल इन आगमों से अनेक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं, अपितु स्वयं दशवैकालिक पर टीका भी लिख रहे हैं। मात्र यही नहीं, यापनीय पर्युषण के अवसर पर कल्पसूत्र की वाचना भी करते थे, ऐसा निर्देश स्वयं दिगम्बराचार्य कर रहे हैं।

क्या यापनीय-आगम वर्तमान श्वेताम्बर-आगमों से भिन्न थे?

इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि यापनीयों के ये आगम कौन से थे? क्या वे इन नामों से उपलब्ध श्वेताम्बर-परम्परा के आगमों से भिन्न थे या यही थे? हमारे कुछ दिगम्बर-विद्वानों ने यह कहने का अतिसाहस भी किया है कि ये आगम वर्तमान श्वेताम्बर-आगमों से सर्वथा भिन्न थे। प० कैलाशचन्द्रजी (जैन-साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, पृ० ५२५) ने ऐसा ही अनुमान किया है। वे लिखते है "जैन परम्परा में दिगम्बर और श्वेताम्बर के समान एक यापनीय-संघ भी था। यह संघ यद्यपि नग्नता का पक्षधर था, तथापि श्वेताम्बरी आगमों को मानता था। इस संघ के आचार्य अपराजितसूरि की संस्कृत टीका भगवती-आराधना नामक प्राचीन ग्रन्थ पर है, जो मुद्रित भी हो चुकी है। उसमें नग्नता के समर्थन में अपराजितसूरि ने आगम-ग्रन्थों से अनेक उद्धरण दिये हैं, जिनमें से अनेक उद्धरण वर्तमान आगमों में नहीं मिलते। आदरणीय पंडितजी ने यहाँ जो "अनेक" शब्द का प्रयोग किया है वह भ्रान्ति उत्पन्न करता है। मैंने अपराजितसूरि की टीका में उद्धृत आगमिक सन्दर्भों की श्वेताम्बर-आगमों से तुलना करने पर स्पष्ट रूप से यह पाया है कि लगभग ९० प्रतिशत सन्दर्भों में आगमों की अर्धमागधी प्राकृत पर शौरसेनी-प्राकृत के प्रभाव के फलस्वरूप हुए आंशिक पाठभेद को छोड़कर कोई अन्तर नहीं है। जहाँ किंचित् पाठभेद है वहाँ भी अर्थ-भेद नहीं है। आदरणीय पंडितजी ने इस ग्रन्थ में भगवती-आराधना की विजयोदया टीका (पृ० ३२०-३२७) से एक उद्धरण दिया है, जो वर्तमान आचारांग में नहीं मिलता है। उनके द्वारा प्रस्तुत वह उद्धरण निम्नस्थ है—

तथा चोक्तमाचाराङ्गे— सुदं *आउस्सत्तो* भगवदा एवमक्खादा इह खलु संयमाभिमुख दुविहा इत्थी पुरिसा जादा हवंति। तं जहा सव्वसमण्णगदे णो सव्वसमण्णागेद चेव। तत्थ जे सव्वसमण्णागदे थिणा हत्थपायणीपादे सव्विंदिय समण्णागदे तस्स णं णो कप्पदि एगमवि वत्थ धारिउं एवं परिहिउं एवं अण्णत्थ एगेण पडिलेहगेण इति।

निश्चय ही उपर्युक्त सन्दर्भ आचारांग में इसी रूप में शब्दशः नहीं है, किन्तु "सव्वसमन्नागय" नामक पद और उक्त कथन का भाव आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन में आज भी सुरक्षित है। अतः इस आधार पर यह कल्पना करना अनुचित होगा कि यापनीय-परम्परा का आचारांग, वर्तमान में श्वेताम्बर-परम्परा में उपलब्ध आचारांग से भिन्न था। क्योंकि अपराजितसूरि द्वारा उद्धृत आचारांग के अन्य सन्दर्भ आज भी श्वेताम्बर-परम्परा के इसी आचारांग में उपलब्ध हैं। अपराजित ने आचारांग के "लोकविचय" नामक द्वितीय अध्ययन के पंचम उद्देशक का उल्लेखपूर्वक जो उद्धरण दिया है, वह आज भी उसी अध्याय के उसी उद्देशक में उपलब्ध है। इसी प्रकार उसमें "अहं पुण एवं जाणेज्ज उपातिकंते हेमंते... ठविज्ज" जो यह पाठ आचारांग से उद्धृत है— वह भी वर्तमान आचारांग के अष्टम अध्ययन के चतुर्थ, उद्देशक में है। उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग कल्प आदि के सन्दर्भों की भी लगभग यही स्थिति है। अब हम उत्तराध्ययन के सन्दर्भों पर विचार करेंगे। आदरणीय पंडितजी ने जैन-साहित्य की पूर्वपीठिका में अपराजित की भगवतीआराधना की टीका की निम्न दो गाथाएँ उद्धृत की हैं—

परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए।
अचेलपवरे भिक्खू जिणरूपधरे सदा।
सचेलगो सुखी भवदि असुखी वा वि अचेलगो।
अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खु न चिंतए।।

पंडितजी ने इन्हें उत्तराध्ययन की गाथा कहा है और उन्हें वर्तमान उत्तराध्ययन में उपलब्ध भी बताया है। किन्तु जब हमने स्वयं पंडितजी द्वारा ही सम्पादित एवं अनुवादित भगवती-आराधना की टीका देखी तो उसमें इन्हें स्पष्ट रूप से उत्तराध्ययन की गाथाएँ नहीं कहा गया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उसमें मात्र "इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति" कहकर इन्हें उद्धृत किया गया है। आदरणीय पंडितजी को यह भ्रान्ति कैसे हो गई, हम नहीं जानते। पुन: ये गाथाएँ भी चाहे शब्दश: उत्तराध्ययन में न हों, किन्तु भावरूप से तो दोनों ही गाथाएँ और शब्द-रूप से इनके आठ चरणों में से चार चरण तो उपलब्ध ही हैं। उपर्युक्त उद्धृत गाथाओं से तुलना के लिए उत्तराध्ययन की ये गाथाएँ प्रस्तुत हैं—

"परिजुण्णेहि वत्थेहिं होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा "सचेलए होक्खं" इदं भिक्खू न चिन्तए।।
"एगया अचेलए होइ सचेले यावि एगया।"
एयं धम्महियं नच्चा नाणी नो परिदेवए।।

— उत्तराध्ययन, २/१२-१३

जिस प्रकार श्वेताम्बर-परम्परा में ही चूर्णि में आगत पाठों और शीलांक या अभयदेव की टीका में आगत पाठों में अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत की दृष्टि से पाठभेद रहा है, उसी प्रकार यापनीय-परम्परा के आगम के पाठ माथुरी वाचना के होने के कारण शौरसेनी प्राकृत से युक्त रहे होंगे। किन्तु यहाँ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि प्राचीन स्तर के सभी आगम-ग्रन्थ मूलत: अर्धमागधी के रहे हैं। उनमें जो महाराष्ट्री या शौरसेनी के शब्द-रूप उपलब्ध होते हैं, वे परवर्ती हैं। विजयोदया में आचारांग आदि के सभी आगमिक सन्दर्भों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे पूर्णत: शौरसेनी प्रभाव से युक्त हैं। मूलत: आचारांग, उत्तराध्ययन आदि आगम तो निश्चित ही अर्धमागधी में रहे हैं। यहाँ दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं, प्रथम यही है कि माथुरी वाचना के समय उन पर शौरसेनी का प्रभाव आया हो और यापनीयों ने उसे मान्य रखा हो। दूसरे यह है कि यापनीयों द्वारा उन आगमों का शौरसेनीकरण करते समय श्वेताम्बर-परम्परा में मान्य आचारांग आदि से उनमें पाठभेद हो गया हो, किन्तु इस आधार पर भी यह कहना उचित नहीं होगा कि यापनीय और श्वेताम्बर-परम्परा के आगम भिन्न थे। ऐसा पाठभेद तो एक ही परम्परा के आगमों में भी उपलब्ध है। स्वयं पं० कैलाशचन्द्रजी ने अपने ग्रन्थ जैन-साहित्य का इतिहास-पूर्वपीठिका में अपराजितसूरि की भगवती-आराधना की टीका से आचारांग का जो उपर्युक्त पाठ दिया है, उसमें और स्वयं उनके द्वारा सम्पादित भगवती-आराधना की अपराजितसूरि की टीका में उद्धृत पाठ में ही अन्तर है--एक में "थीण" पाठ है--दूसरे में "थीरांग" पाठ है, जिससे अर्थ-भेद भी होता है। एक ही लेखक और सम्पादक की कृति में भी पाठभेद हो तो भिन्न परम्पराओं में किंचित् पाठभेद होना स्वाभाविक है, किन्तु उससे उनकी पूर्ण भिन्नता की कल्पना नहीं की जा सकती है। पुन: यापनीय-परम्परा द्वारा उद्धृत आचारांग, उत्तराध्ययन आदि के उपर्युक्त पाठों की अचेलकत्व की अवधारणा का प्रश्न है, वह श्वेताबम्बर-परम्परा के आगमों में आज भी उपलब्ध है।

इसी प्रसंग में उत्तराध्ययन की जो अन्य गाथाएँ उद्धृत की गई हैं, वे आज भी उत्तराध्ययन के २३वें अध्ययन में कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध हैं। आराधना की टीका में उद्धृत इन गाथाओं पर भी शौरसेनी का स्पष्ट प्रभाव है। यह भी स्पष्ट है कि मूल उत्तराध्ययन अर्धमागधी की रचना है। इससे ऐसा लगता है कि यापनीयों ने अपने समय के अविभक्त परम्परा के आगमों को मान्य करते हुए भी उन्हें शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित करने का प्रयास किया था, अन्यथा अपराजित की टीका में मूल आगमों के उद्धरणों का शौरसेनी रूप न मिलकर अर्धमागधी रूप ही मिलता। इस सम्बन्ध में पं० नाथूरामजी प्रेमी (जैन-साहित्य और इतिहास, पृ० ६०) का निम्न वक्तव्य विचारणीय है—

"श्वेताम्बर-सम्प्रदाय मान्य जो आगम-ग्रन्थ हैं, यापनीय संघ शायद उन सभी को मानता था, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि दोनों के आगमों में कुछ पाठभेद था और उसका कारण यह हो कि उपलब्ध वल्लभी वाचना के पहले की कोई वाचना (संभवत: माथुरी वाचना) यापनीय-संघ के पास थी, क्योंकि विजयोदया टीका में आगमों के जो उद्धरण हैं वे श्वेताम्बर-आगमों में बिल्कुल ज्यों के त्यों नहीं बल्कि कुछ पाठभेद के साथ मिलते हैं। यापनीय के पास स्कंदिल की माथुरी वाचना के आगम थे यह मानने में एक बाधा आती है, वह यह कि स्कंदिल की वाचना का काल वीरनिर्वाण ८२७-८४० अर्थात् ईसा की तृतीय शती का अन्त और चतुर्थ शती का प्रारम्भ है, जबकि संघभेद उसके लगभग २०० वर्ष पहले ही घटित हो चुका था।" किन्तु पं० नाथूरामजी की यह शंका इस आधार पर निरस्त हो जाती है कि वास्तविक सम्प्रदाय-भेद ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी में न होकर पाँचवीं शती में हुआ। यद्यपि यह माना जाता है कि फल्गुमित्र की परम्परा की कोई वाचना थी, किन्तु इस वाचना के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि यापनीय-आगम वही थे, जो उन नामों से आज श्वेताम्बर-परम्परा में उपलब्ध हैं। मात्र उनमें किंचित् पाठभेद था तथा भाषा की दृष्टि से शौरसेनी का प्रभाव अधिक था। यापनीय-ग्रन्थों में आगमों के जो उद्धरण मिलते हैं उनमें कुछ तो वर्तमान श्वेताम्बर-परम्परा के आगमों में अनुपलब्ध हैं, कुछ पाठान्तर के साथ उपलब्ध हैं। जो अनुपलब्ध हैं, उनके सम्बन्ध में दो विकल्प हैं—प्रथम यह कि मूलागमों के वे अंश बाद के श्वेताम्बर-आचार्यो ने अगली वाचना में निकाल दिये और दूसरा यह कि वे अंश यापनीय-मान्यता के प्रक्षिप्त अंश हों। किन्तु प्रथम विकल्प में इसलिए विश्वास नहीं होता कि यदि परवर्ती वाचनाओं में वे सब बातें, जो उस युग के आचार्यो को मान्य नहीं थीं या उनकी परम्परा के विरूद्ध थीं, निकाल दी गई होतीं तो वर्तमान श्वेताम्बर-आगमों में अचेलता के समर्थक सभी अंश निकाल दिये जाने चाहिए थे। मुझे ऐसा लगता है कि आगमों की वाचनाओं (संकलन) के समय केवल वे ही अंश नहीं आ पाये थे जो विस्मृत हो गये थे अथवा पुनरावृत्ति से बचने के लिए "जाव" पाठ देकर वहाँ से हटा दिये गये थे। मान्यता भेद के कारण कुछ अंश जानबूझकर निकाले गये हों, ऐसा कोई भी विश्वसनीय प्रमाण हमें नहीं मिलता है। किन्तु यह हो सकता है कि वे अंश किसी अन्य गण की वाचना के रहे हों, जिनके प्रतिनिधि उस वाचना में सम्मिलित नहीं थे। कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं कि विभिन्न गणों में वाचना-भेद या पाठभेद होता था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमों में पाठभेद एवं प्रक्षेप

विभिन्न गणों के निर्माण का एक कारण वाचना-भेद भी माना गया है। यह कहा जाता है कि महावीर के ग्यारह गणधरों की नौ वाचनाएँ थीं अर्थात् महावीर के काल में भी वाचना-भेद था क्योंकि प्रत्येक वाचनाचार्य की अध्यापन-शैली भिन्न होती थी। ज्ञातव्य है कि जैन-परम्परा में शब्द के स्थान पर अर्थ पर बल दिया जाता था, तीर्थङ्कर को अर्थ का प्रवर्तक माना गया था जबकि वैदिक परम्परा शब्द-प्रधान थी। यही कारण है कि जैनों ने यह माना कि चाहे शब्द-भेद हो, पर अर्थ-भेद नहीं होना चाहिए। यही कारण है कि वाचना-भेद बढ़ते गये। हमें यापनीय-ग्रन्थों में उपलब्ध आगमिक उद्धरणों से वर्तमान आगमों के पाठों का जो पाठभेद मिलता है उनका कारण वाचना-भेद है,अर्थ-भेद नहीं, क्योंकि ऐसे अनुपलब्ध अंशों या पाठभेदों में विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। किन्तु इस सम्भावना से पूरी तरह इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्वयं यापनीयों ने भी अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए कुछ अंश जोड़े हों अथवा परिवर्तित किये हों। श्वेताम्बर परम्परा में भी वल्लभी वाचना में या उसके पश्चात् भी आगमों में कुछ अंश जुड़ते रहे हैं--इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। हम पण्डित कैलाशचन्द्रजी (जैन-साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका, पृ० ५२७) के इस कथन से सहमत हैं कि वल्लभी वाचना के समय और उसके बाद भी आगमों के स्वरूप में कुछ परिवर्तन हुए हैं। किन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त "बहुत" शब्द आपत्तिजनक है। फिर भी ध्यान रखना होगा कि इनमें प्रक्षेप ही अधिक हुआ है, विस्मृति को छोड़कर जान-बूझकर निकाला कुछ नहीं गया है।

किन्तु ऐसा प्रक्षेप मात्र श्वेताम्बरों ने किया है और दिगम्बरों तथा यापनीयों ने नहीं किया है--यह नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि यापनीय-परम्परा ने भी आगमों में अपने अनुकूल कुछ अंश प्रक्षिप्त किये हों। मूलाचार, भगवती-आराधना आदि ग्रन्थों को देखने से ऐसा स्पष्ट लगता है कि उन्होंने अर्धमागधी आगम-साहित्य की ही सैकड़ों गाथाएँ शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित करके अपने इन ग्रन्थों की रचना की है, मूलाचार का लगभग आधा भाग प्रकीर्णकों, निर्युक्तियों एवं आगमों की गाथाओं से निर्मित है। यह तो निश्चित है कि प्राचीन आगम-साहित्य अर्धमागधी में था। यापनीय-ग्रन्थों में उपलब्ध आगमिक सन्दर्भ के सदैव शौरसेनी रूप ही मिलते हैं, जो इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उन्होंने अर्धमागधी आगम-साहित्य को शौरसेनी में अपने ढंग से रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया होगा और इस प्रयत्न में उन्होंने अपने मत की पुष्टि का भी प्रयास किया होगा।

अत: इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यापनीय आचार्यों ने भी मूल आगमों के साथ छेड़छाड़ की थी और अपने मत की पुष्टि हेतु उन्होंने उनमें परिवर्धन और प्रक्षेप भी किये।

मात्र श्वेताम्बर और यापनीय ही आगमों के साथ छेड़छाड़ करने के दोषी नहीं हैं, बल्कि दिगम्बर-आचार्य और पण्डित भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहे हैं। यापनीय-ग्रन्थों में दिगम्बर-परम्परा के द्वारा जो प्रक्षेपण और परिवर्तन किये गये हैं वे तो और भी अधिक विचारणीय हैं, क्योंकि इनके कारण अनेक यापनीय-ग्रन्थों का यापनीय स्वरूप ही विकृत हो गया है। हमारे दिगम्बर-विद्वान् श्वेताम्बर-ग्रन्थों में प्रक्षेपण की बात तो कहते हैं, किन्तु वे इस बात को विस्मृत कर जाते हैं कि स्वयं उन्होंने यापनीय और अपने ग्रन्थों में भी किस प्रकार हेर-फेर किये हैं। इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर दिगम्बर-विद्वानों का मत प्रस्तुत करना चाहूँगा।

पं० कैलाशचन्द्रजी स्व-सम्पादित "भगवती-आराधना" की प्रस्तावना (पृ० ९) में लिखते हैं—"विजयोदया के अध्ययन से प्रकट होता है कि उनके सामने टीका लिखते समय जो मूलग्रन्थ उपस्थित था, उसमें और वर्तमान मूल (ग्रन्थ) में अन्तर है। अनेक गाथाओं में वे शब्द नहीं मिलते जो टीकाओं में हैं।"

इससे स्पष्ट होता है कि जब दिगम्बर आचार्यों ने इस यापनीय-ग्रन्थ को अपने में समाहित किया होगा तो इसकी मूल गाथाओं के शब्दों में भी हेर-फेर कर दिया होगा। यदि पं० कैलाशचन्द्रजी ने उन सभी स्थलों का जहाँ उन्हें पाठभेद प्रतीत हुआ, निर्देश किया होता तो सम्भवत: हम अधिक प्रामाणिकता से कुछ बात कह सकते थे। टीका और मूल के सारे अन्तरों को हम भी अभी तक खोज नहीं पाये हैं। अत: अभी तो उनके मत को ही विश्वसनीय मानकर संतोष करेंगे। स्वयंभू के रिट्ठनेमिचरिउ (हरिवंशपुराण) में भी इसी प्रकार की छेड़-छाड़ हुई थी। इस सन्दर्भ में पं० नाथूरामजी प्रेमी (जैन-साहित्य और इतिहास,पृ० २०२) लिखते हैं—"इसमें तो संदेह नहीं है कि इस अन्तिम अंश में मुनि जसकित्ति (यशकीर्ति) का भी हाथ है, परन्तु यह कितना है यह निर्णय करना कठिन है। बहुत कुछ सोच-विचार के बाद हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि मुनि जसकित्ति को इस ग्रन्थ की कोई ऐसी जीर्ण-शीर्ण प्रति मिली थी जिसके अन्तिम पत्र नष्ट-भ्रष्ट थे और शायद अन्य प्रतियाँ दुर्लभ थीं, इसलिए उन्होंने गोपगिरि (ग्वालियर) के समीप कुमरनगरी के जैन-मन्दिर में व्याख्यान करने के लिए इसे ठीक किया अर्थात् जहाँ-जहाँ जितना अंश फट गया था या नष्ट हो गया था, उसको स्वयं रचकर जोड़ दिया और जहाँ-जहाँ जोड़ा, वहाँ-वहाँ अपने परिश्रम के एवज में अपना नाम भी जोड़ दिया। इससे स्पष्ट है कि कुछ दिगम्बर-आचार्यों ने दूसरों की रचनाओं को भी अपने नाम पर चढ़ा लिया।

इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ति में भी पर्याप्त रूप से मिलावट हुई है। जहाँ "तिलोयपण्णत्ति" का ग्रन्थ-परिमाण ८००० श्लोक बताया गया है वहाँ वर्तमान तिलोयपण्णत्ति का श्लोक-परिमाण ९३४० है अर्थात् लगभग १३४० श्लोक अधिक हैं। पं० नाथूरामजी प्रेमी के शब्दों में— "ये इस बात के संकेत देते हैं कि पीछे से इसमें मिलावट की गयी है।" इस सन्दर्भ में पं० फूलचन्द्रशास्त्री के, जैन-साहित्य-भास्कर, भाग ११, अंक प्रथम में प्रकाशित "वर्तमान तिलोयपण्णत्ति और उसके रचनाकार का विचार" नामक लेख के आधार पर वे लिखते हैं— "उससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ अपने असल रूप में नहीं रहा है। उसमें न केवल बहुत सा लगभग एक अष्टमांश प्रक्षिप्त है, बल्कि बहुत-सा परिवर्तन और परिशोध भी किया गया है, जो मूल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ-कर्ता के अनुकूल नहीं है।'' इसी प्रकार कसायपाहुडसुत्त की मूल गाथाएँ १८० थीं, किन्तु आज उसमें २३३ गाथाएँ मिलती हैं— अर्थात् उसमें ५३ गाथाएँ परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रक्षिप्त हैं। यही स्थिति कुन्दकुन्द के समयसार, वट्टकेर के मूलाचार आदि की भी है। प्रकाशित संस्करणों में भी गाथाओं की संख्याओं में बहुत अधिक अन्तर है। समयसार के ज्ञानपीठ के संस्करण में ४१५ गाथाएँ हैं तो अजिताश्रम संस्करण में ४३७ गाथाएँ। मूलाचार के दिगम्बर-जैनग्रन्थमाला के संस्करण में १२४२ गाथाएँ हैं। तो फलटण के संस्करण में १४१४ गाथायें हैं, अर्थात् १६२ गाथायें अधिक हैं, यह सब इस बात का प्रमाण है कि दिगम्बर-परम्परा के आचार्यों ने श्वेताम्बरों और यापनीयों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रक्षेप एवं परिवर्तन किया है। इन उल्लेखों के अतिरिक्त वर्तमान में भी इस प्रकार के परिवर्तनों के प्रयास हुए हैं, जैसे ''धवला'' के सम्पादन के समय मूल ग्रन्थ षट्खण्डागम से ''संजद'' पद को हटा देना, ताकि उस ग्रन्थ के यापनीय स्वरूप या स्त्री-मुक्ति के समर्थक होने का प्रमाण नष्ट किया जा सके। इस सन्दर्भ में दिगम्बर-समाज में कितनी ऊहापोह मची थी और पक्ष-विपक्ष में कितने लेख लिखे गये थे, यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है। यह भी सत्य है कि अन्त में मूलप्रति में ''संजद'' पद पाया गया। तथापि ताम्रपत्र वाली प्रति में वह पद नहीं लिखा गया, सम्भवत: भविष्य में वह एक नई समस्या उत्पन्न करेगा। इस सन्दर्भ में भी मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर दिगम्बर-परम्परा के मान्य विद्वान् पं० कैलाशचन्द्रजी के शब्दों को ही उद्धृत कर रहा हूँ। पं० बालचन्द्रशास्त्री की कृति ''षट्खण्डागम-परिशीलन'' के आ[illegible] सम्पादकीय में वे लिखते हैं—''समूचा ग्रन्थ प्रकाशित होन से पूर्व ही एक और विवाद उठ खड़ा हुआ। प्रथम भाग के सूत्र ९३ में जो पाठ हमें उपलब्ध था, उसमें अर्थ-संगति की दृष्टि से ''संजदासंजद'' के आगे ''संजद'' पद जोड़ने की आवश्यकता प्रतीत हुई, किन्तु इससे फलित होने वाली सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं से कुछ विद्वानों के मन आलोडित हुए और वे ''संजद'' पद को जोड़ना एक अनधिकार चेष्टा कहने लगे। इस पर बहुत बार मौखिक शास्त्रार्थ भी हुए और उत्तर-प्रत्युत्तर रूप लेखों की शृंखलाएँ भी चल पड़ीं, जिनका संग्रह कुछ स्वतंत्र ग्रन्थों में प्रकाशित भी हुआ। इसके मौखिक समाधान हेतु जब सम्पादकों ने ताड़पत्रीय प्रतियों के पाठ की सूक्ष्मता से जाँच करायी तब पता चला कि वहाँ की दोनों भिन्न प्रतियों में हमारा सुझाया गया 'संजद' पद विद्यमान है। इससे दो बातें स्पष्ट हुईं— एक तो यह कि सम्पादकों ने जो पाठ-संशोधन किया है, वह गम्भीर चिन्तन और समझदारी पर आधारित है और दूसरी यह कि मूल प्रतियों से पाठ मिलान की आवश्यकता अब भी बनी हुई है, क्योंकि जो पाठान्तर मूडबिद्री से प्राप्त हुए थे और तृतीय भाग के अन्त में समाविष्ट किये गये थे उनमें यह संशोधन नहीं मिला।''

मेरे उपर्युक्त लेखन का तात्पर्य किसी की भावनाओं को ठेस पहुँचाना नहीं है, किन्तु मूलग्रन्थों के साथ ऐसी छेड़-छाड़ करने के लिए श्वेताम्बर, दिगम्बर, यापनीय सभी समानरूप से दोषी हैं। जहाँ श्वेताम्बर ने अपने ही पूर्व अविभक्त परम्परा के आगमों से ऐसी छेड़-छाड़ की, वहाँ यापनीयों ने श्वेताम्बर-मान्य आगमों और आगमिक व्याख्याओं से और दिगम्बरों ने यापनीय-परम्परा के ग्रन्थों से ऐसी ही छेड़-छाड़ की।

निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार की छेड़-छाड़ प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक होती रही है। कोई भी परम्परा इस सन्दर्भ में पूर्ण निर्दोष नहीं कही जा सकती। अत: किसी भी परम्परा का अध्ययन करते समय यह आवश्यक है कि हम उन प्रक्षिप्त अथवा परिवर्धित अंशों पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें, क्योंकि इस छेड़-छाड़ में कहीं कुछ ऐसा अवश्य रह जाता है, जिससे यथार्थता को समझा जा सकता है।

परिवर्धनों और परिवर्तनों के बावजूद भी श्वेताम्बर-आगमों की एक विशेषता है, वह यह कि वे सब बातें भी जिनका उनकी परम्परा से स्पष्ट विरोध है, उनमें यथावत् रूप से सुरक्षित हैं। यही कारण है कि श्वेताम्बर-आगम जैन-धर्म के प्राचीन स्वरूप की जानकारी देने में आज भी पूर्णतया सक्षम हैं। आवश्यकता है निष्पक्ष भाव से उनके अध्ययन की। क्योंकि उनमें बहुत कुछ ऐसा मिल जाता है, जिसमें जैनधर्म के विकास और उसमें आये परिवर्तनों को समझा जा सकता है। यही बात किसी सीमा तक यापनीय और दिगम्बर ग्रन्थों के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है, यद्यपि श्वेताम्बर-साहित्य की अपेक्षा वह अल्प ही है। प्रक्षेप और परिष्कार के बाद भी समग्र जैन-साहित्य में बहुत कुछ ऐसा है, जो सत्य को प्रस्तुत करता है, किन्तु शर्त यही है कि उसका अध्ययन ऐतिहासिक और सम्प्रदाय-निरपेक्ष दृष्टि से हो, तभी हम सत्य को समझ सकेंगे।

जैन-आगमों की मूल भाषा : अर्धमागधी या शौरसेनी?

वर्तमान में 'प्राकृत-विद्या' नामक शोध पत्रिका के माध्यम से जैन विद्या के विद्वानों का एक वर्ग आग्रहपूर्वक यह मत प्रतिपादित कर रहा है ''जैन आगमों की मूल भाषा शौरसेनी प्राकृत थी, जो कालान्तर में परिवर्तित करके अर्धमागधी बना दी गई''। इस वर्ग का यह भी दावा है कि शौरसेनी प्राकृत ही प्राचीनतम प्राकृत है और अन्य सभी प्राकृतें यथा— मागधी, पैशाची, महाराष्ट्री आदि इसी से विकसित हुई हैं, अत: वे सभी शौरसेनी प्राकृत से परवर्ती भी हैं। इसी क्रम में दिगम्बर परम्परा में आगमों के रूप में मान्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में निहित अर्धमागधी और महाराष्ट्री शब्दरूपों को परिवर्तित कर उन्हें शौरसेनी में रूपान्तरित करने का एक सुनियोजित प्रयत्न भी किया जा रहा है। इस समस्त प्रचार-प्रसार के पीछे मूलभूत उद्देश्य यह है कि श्वेताम्बर मान्य आगमों को दिगम्बर परम्परा में मान्य आगमतुल्य ग्रन्थों से अर्वाचीन और अपने शौरसेनी में निबद्ध आगमतुल्य ग्रन्थों को प्राचीन सिद्ध किया जाये। इस पारस्परिक विवाद का एक परिणाम यह भी हो रहा है कि श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के बीच कटुता की खाई गहरी होती जा रही है और इन सब में एक निष्पक्ष भाषाशास्त्रीय अध्ययन को पीछे छोड़ दिया जा रहा है। प्रस्तुत निबन्ध में मैं इन सभी प्रश्नों पर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में आगम रूप में ग्रन्थों के आलोक में चर्चा करने का प्रयत्न करूँगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या आगम साहित्य मूलतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था?

यहाँ सर्वप्रथम मैं इस प्रश्न की चर्चा करना चाहूँगा कि क्या जैन आगम साहित्य मूलतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था और उसे बाद में परिवर्तित करके अर्धमागधी रूप दिया गया? जैन विद्या के कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि जैन आगम साहित्य मूलतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध हुआ था और उसे बाद में अर्धमागधी में रूपान्तरित किया गया। अपने इस कथन के पक्ष में वे श्वेताम्बर, दिगम्बर किन्हीं भी आगमों का प्रमाण न देकर प्रो॰ टॉटिया के व्याख्यान से कुछ अंश उद्धृत करते हैं। डॉ॰ सुदीप जैन ने 'प्राकृत विद्या', जनवरी-मार्च ९६ के सम्पादकीय में उनके कथन को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है—

"हाल ही में श्री लालबहादुरशास्त्री संस्कृत विद्यापीठ में सम्पन्न द्वितीय आचार्य कुन्दकुन्दस्मृति व्याख्यानमाला में विश्वविश्रुत भाषाशास्त्री एवं दार्शनिक विचारक प्रो०नथमल जी टॉटिया ने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि "श्रमण-साहित्य का प्राचीन रूप, चाहे वे बौद्धों के त्रिपिटक आदि हों, श्वेताम्बरों के आचाराङ्गसूत्र, दशवैकालिकसूत्र आदि हों अथवा दिगम्बरों के षट्खण्डागमसूत्र, समयसार आदि हों, सभी शौरसेनी प्राकृत में ही निबद्ध थे। उन्होंने आगे सप्रमाण स्पष्ट किया कि बौद्धों ने बाद में श्रीलंका में एक बृहत्सङ्गीति में योजनापूर्वक शौरसेनी में निबद्ध बौद्धसाहित्य का मागधीकरण किया और प्राचीन शौरसेनी में निबद्ध बौद्धसाहित्य के ग्रन्थों को अग्निसात् कर दिया। इसी प्रकार श्वेताम्बर जैन साहित्य का भी प्राचीन रूप शौरसेनी प्राकृत में ही था, जिसका रूप क्रमशः अर्धमागधी में बदल गया। यदि हम वर्तमान अर्धमागधी आगम साहित्य को ही मूल श्वेताम्बर आगम-साहित्य मानने पर जोर देंगे, तो इस अर्धमागधी भाषा का आज से पन्द्रह सौ वर्ष के पहिले अस्तित्व ही नहीं होने से इस स्थिति में हमें अपने आगम साहित्य को भी ५०० वर्ष ई॰ के परवर्ती मानना पड़ेगा।" उन्होंने स्पष्ट किया कि आज भी आचाराङ्गसूत्र आदि की प्राचीन प्रतियों में शौरसेनी के शब्दों की प्रचुरता मिलती है, जबकि नये प्रकाशित संस्करणों में उन शब्दों का अर्द्धमागधीकरण हो गया है। उन्होंने कहा कि पक्षव्यामोह के कारण ऐसे परिवर्तनों से हम अपने साहित्य का प्राचीन मूलरूप खो रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि दिगम्बर जैन साहित्य में ही शौरसेनी भाषा के प्राचीनरूप सुरक्षित उपलब्ध हैं।"

निस्संदेह प्रो॰टॉटिया जैन और बौद्ध विद्याओं के वरिष्ठतम विद्वानों में एक हैं और उनके कथन का कोई अर्थ और आधार भी होगा। किन्तु ये कथन उनके अपने हैं या उन्हें अपने पक्ष की पुष्टि हेतु तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया है, यह एक विवादास्पद प्रश्न है? क्योंकि एक ओर तुलसीप्रज्ञा के सम्पादक का कहना है कि टॉटिया जी ने इसका खण्डन किया है। वे तुलसीप्रज्ञा (अप्रैल-जून, ९६, खण्ड २२, अंक ४) में लिखते हैं कि— "डॉ॰ नथमल टॉटिया ने दिल्ली की एक पत्रिका में छपे और उनके नाम से प्रचारित इस कथन का खण्डन किया है कि महावीरवाणी शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध हुई। उन्होंने स्पष्ट मत प्रकट किया कि आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन, सूत्रकृताङ्ग और दशवैकालिक में अर्धमागधी भाषा का उत्कृष्ट रूप है।"

दूसरी ओर प्राकृत-विद्या के सम्पादक डॉ॰ सुदीप जी का कथन है कि उनके व्याख्यान की टेप हमारे पास उपलब्ध है और हमने उसे अविकल रूप से यथावत् दिया है। मात्र इतना ही नहीं डॉ॰ सुदीपजी का तो यह भी कथन है कि तुलसीप्रज्ञा के खण्डन के बाद भी वे टॉटिया जी से मिले हैं और टॉटिया जी ने उन्हें कहा है कि वे अपने कथन पर आज भी दृढ़ हैं। टॉटिया जी के इस कथन को उन्होंने प्राकृत-विद्या जुलाई-सितम्बर ९६ के अङ्क में निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया —

"मैं संस्कृत विद्यापीठ की व्याख्यानमाला में प्रस्तुत तथ्यों पर पूर्णतया दृढ़ हूँ तथा यह मेरी तथ्याधारित स्पष्ट अवधारणा है जिससे विचलित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है"। (पृ॰ ९)

यह समस्त विवाद दो पत्रिकाओं के माध्यम से दोनों सम्पादकों के मध्य है, किन्तु इस विवाद में सत्यता क्या है और उसका मूल मन्तव्य क्या है, इसका निर्णय तो तभी सम्भव है जब डॉ॰ टॉटिया स्वयं इस सम्बन्ध में लिखित वक्तव्य दें, किन्तु वे इस सम्बन्ध में मौन हैं। मैंने स्वयं उन्हें पत्र लिखा था, किन्तु उनका कोई प्रत्युत्तर नहीं आया। मैं डॉ॰ टॉटिया की उलझन समझता हूँ। एक ओर कुन्दकुन्द-भारती ने उन्हें कुन्दकुन्द व्याख्यानमाला में आमन्त्रित कर पुरस्कृत किया है तो दूसरी ओर वे जैन विश्वभारती की सेवा में हैं, जब जिस मञ्च से बोले होंगे भावावेश में उनके अनुकूल वक्तव्य दे दिये होंगे और अब स्पष्ट खण्डन भी कैसे करें? फिर भी मेरी अन्तरात्मा यह स्वीकार नहीं करती है कि डॉ॰ टॉटिया जैसे गम्भीर विद्वान् बिना प्रमाण के ऐसे वक्तव्य दें। कहीं न कहीं शब्दों की जोड़-तोड़ अवश्य हो रही है। डॉ॰ सुदीपजी प्राकृत-विद्या, जुलाई-सितम्बर ९६ में डॉ॰ टॉटिया जी के उक्त व्याख्यानों के विचार बिन्दुओं को अविकल रूप से प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि— "हरिभद्र का सारा योगशतक धवला से है।"

इसका तात्पर्य है कि हरिभद्र के योगशतक को धवला के आधार पर बनाया गया है। क्या टॉटिया जी जैसे विद्वान् को इतना भी इतिहास बोध नहीं है कि योगशतक के कर्त्ता हरिभद्रसूरि और धवला के कर्ता में कौन पहले हुआ है? यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि हरिभद्रसूरि का योगशतक (आठवीं शती), धवला (१०वीं शती) से पूर्ववर्ती है। मुझे विश्वास ही नहीं होता है, कि टॉटिया जी जैसा विद्वान् इस ऐतिहासिक सत्य को अनदेखा कर दे। कहीं न कहीं उनके नाम पर कोई भ्रम खड़ा किया जा रहा है। डॉ॰ टॉटिया जी को अपनी चुप्पी तोड़कर इस भ्रम का निराकरण करना चाहिए। वस्तुतः यदि कोई भी चर्चा प्रमाणों के आधार पर नहीं होती है तो उसको कैसे मान्य किया जा सकता है, फिर चाहे उसे कितने ही बड़े विद्वान् ने क्यों न कहा हो? यदि व्यक्ति का ही महत्त्व मान्य है, तो अभी संयोग से टॉटिया जी से भी वरिष्ठ अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के जैन, बौद्ध विद्याओं के महामनीषी और स्वयं टॉटिया जी के गुरु पद्मविभूषण पं॰ दलसुखभाई मालवणिया हमारे बीच हैं, फिर तो उनके कथन को अधिक प्रामाणिक मानकर प्राकृत-विद्या के सम्पादक को स्वीकार करना होगा। खैर यह सब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रास्ताविक बातें थीं, जिससे यह समझा जा सके कि समस्या क्या है, कैसे उत्पन्न हुई और प्रस्तुत स्पष्टीकरण की क्या आवश्यकता है? हमें तो व्यक्तियों के कथनों या वक्तव्यों पर न जाकर तथ्यों के प्रकाश में इसकी समीक्षा करनी है कि आगमों की मूलभाषा क्या थी और अर्धमागधी और शौरसेनी में कौन प्राचीन है?

आगमों की मूलभाषा अर्धमागधी

यह एक सुनिश्चित सत्य है कि महावीर का जन्मक्षेत्र और कार्यक्षेत्र दोनों ही मुख्य रूप से मगध और उसके समीपवर्ती क्षेत्र में ही था, अत: यह स्वाभाविक है कि उन्होंने जिस भाषा को बोला होगा वह समीपवर्ती क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी अर्थात् अर्धमागधी ही रही होगी। व्यक्ति की भाषा कभी भी अपनी मातृभाषा से अप्रभावित नहीं होती है। पुन: श्वेताम्बर परम्परा में मान्य जो भी आगम साहित्य आज उपलब्ध हैं, उनमें अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं, जिनमें स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि महावीर ने अपने उपदेश अर्धमागधी भाषा में दिये थे।

इस सम्बन्ध में अर्धमागधी आगम-साहित्य से कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं यथा —

१. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। — समवायाङ्ग, समवाय ३४, सूत्र २२।
२. तए णं समणे भगवं महावीरे कुणिअस्स भंभसारपुत्तस्स अद्धमागहीए भासाए भासत्ति अरिहाधम्मं परिकहइ। — औपपातिकसूत्र।
३. गोयमा! देवाणं अद्धमागहीए भासाए भासंति सवियणं अद्धमागहा भासा भासिज्ज[illegible]सज्जति।— भगवई, लाडनूं : शतक ५, उद्देशक ४, सूत्र [illegible]।
४. तए णं समणे भगवं महावीरे उसभदत्तमाहणस्स देवाणंदा माहणीए तीसे य महति महलियाए इसिपरिसाए मुणिपरिसाए जइपरिसाए.... सव्व भासणुगामणिए सरस्सईए जोयणणीहारिणासरेणं अद्धमगहाए भासाइ धम्मं परिकहइ। — भगवई लाडनूं, शतक ९, उद्देशक ३३, सूत्र १४९।
५. तए णं समणे भगवं महावीरे जामालिस्स खत्तियकुमारस्स.... अद्धमगाहाए भासाए भासइ धम्मं परिकहइ। —भगवई, लाडनूं : शतक ९, उद्देशक ३३, सूत्र १६३।
६. सव्वसत्तसमदरिसीहिं अद्धमागहीए भासाए सुत्तं उवदिट्ठं। — आचाराङ्गचूर्णि, जिनदासगणि, पृ० २५५।

मात्र इतना ही नहीं, दिगम्बर परम्परा में मान्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ बोधपाहुड, जो स्वयं शौरसेनी में निबद्ध है, उसकी टीका में दिगम्बर आचार्य श्रुतसागर जी लिखते हैं कि भगवान् महावीर ने अर्धमागधी भाषा में अपना उपदेश दिया। प्रमाण के लिये उस टीका के अनुवाद का वह अंश प्रस्तुत है — अर्ध मगध देश भाषात्मक और अर्ध सर्वभाषात्मक भगवान् की ध्वनि खिरती है। शङ्का— अर्धमागधी भाषा देवकृत अतिशय कैसे हो सकती है, क्योंकि भगवान् की भाषा ही अर्धमागधी है? उत्तर— मगध देव के सान्निध्य से होने से आचार्य प्रभाचन्द्र ने नन्दीश्वर भक्ति के अर्थ में लिखा है— "एक योजन तक भगवान् की वाणी स्वयमेव सुनाई देती है। उसके आगे संख्यात योजनों तक उस दिव्यध्वनि का विस्तार मगध जाति के देव करते हैं। अत: अर्धमागधी भाषा देवकृत है। (षट्प्राभृतम्, चतुर्थ बोध गाथा ३२, पाहुडटीका, पृ०१७६)।

मात्र यही नहीं वर्तमान में भी दिगम्बर परम्परा के महान् संत एवं आचार्य विद्यासागर जी के प्रमुख शिष्य मुनि श्री प्रमाणसागरजी अपनी पुस्तक 'जैनर्धमदर्शन' में लिखते हैं कि 'उन भगवान् महावीर का उपदेश सर्वग्राह्य अर्धमागधी भाषा में हुआ।'

जब श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ यह मानकर चल रही हैं कि भगवान् का उपदेश अर्धमागधी में हुआ था और इसी भाषा में उनके उपदेशों के आधार पर आगमों का प्रणयन हुआ तो फिर शौरसेनी के नाम से नया विवाद खड़ा करके इस खाई को चौड़ा क्यों किया जा रहा है?

यह तो आगमिक प्रमाणों की चर्चा हुई। व्यावहारिक एवं ऐतिहासिक तथ्य भी इसी की पुष्टि करते हैं —

१. यदि महावीर ने अपने उपदेश अर्धमागधी में दिये तो यह स्वाभाविक है कि गणधरों ने उसी भाषा में आगमों का प्रणयन किया होगा। अत: सिद्ध है कि आगमों की मूल भाषा क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी अर्थात् अर्धमागधी रही है, यह मानना होगा।
२. इसके विपरीत शौरसेनी आगमतुल्य मान्य ग्रन्थों में से किसी एक भी ग्रन्थ में एक भी सन्दर्भ ऐसा नहीं है, जिससे यह प्रतिध्वनित भी होता हो कि आगमों की मूल भाषा शौरसेनी प्राकृत थी। उनमें मात्र यह उल्लेख है कि तीर्थङ्करों की जो वाणी खिरती है, वह सर्वभाषारूप परिणत होती है। उसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि उनकी वाणी जनसाधारण को आसानी से समझ में आती थी। वह लोकवाणी थी। उसमें मगध के निकटवर्ती क्षेत्रों की क्षेत्रीय बोलियों के शब्द रूप भी होते थे और यही कारण था कि उसे मागधी न कहकर अर्धमागधी कहा गया था।
३. जो ग्रन्थ जिस क्षेत्र में रचित या सम्पादित होता है, उसका वहाँ की बोली से प्रभावित होना स्वाभाविक है। प्राचीन स्तर के जैन आगम यथा आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग इसिभासियइं (ऋषिभाषित), उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि मगध और उसके समीपवर्ती क्षेत्र में रचित हैं और उनमें इसी क्षेत्र के नगरों आदि की सूचनाएँ हैं। मूल आगमों में एक भी ऐसी सूचना नहीं है कि महावीर ने बिहार, बङ्गाल और पूर्वी उत्तर प्रदेश से आगे विहार किया हो। अत: उनकी भाषा अर्धमागधी ही रही होगी।
४. पुन: आगमों की प्रथम वाचना पाटलिपुत्र में और दूसरी खण्डगिरि (उड़ीसा) में हुई, ये दोनों क्षेत्र मथुरा से पर्याप्त दूरी पर स्थित हैं, अत: कम से कम प्रथम और द्वितीय वाचना के समय तक अर्थात् ई०पू० दूसरी शती तक उनके शौरसेनी में रूपान्तरित होने का या उससे प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

यह सत्य है कि उसके पश्चात् जब जैन धर्म एवं विद्या का केन्द्र पाटलिपुत्र से हटकर लगभग ई०पू० प्रथम शती में मथुरा बना तो उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर शौरसेनी का प्रभाव आना प्रारम्भ हुआ। यद्यपि मथुरा से प्राप्त दूसरी शती तक के अभिलेखों का शौरसेनी के प्रभाव से मुक्त होना यही सिद्ध करता है कि जैनागमों पर शौरसेनी का प्रभाव दूसरी शती के पश्चात् ही प्रारम्भ हुआ होगा। सम्भवतः फल्गुमित्र (दूसरी शती) के समय या उसके भी पश्चात् स्कंदिल (चतुर्थ शती) की माथुरी वाचना के समय उन पर शौरसेनी प्रभाव आया था, यही कारण है कि यापनीय परम्परा में मान्य आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, निशीथ, कल्प आदि जो आगम रहे हैं, वे शौरसेनी से प्रभावित रहे हैं। यदि डॉ० टॉटिया ने यह कहा है कि आचाराङ्ग आदि श्वेताम्बर आगमों का शौरसेनी प्रभावित संस्करण भी था जो मथुरा क्षेत्र में विकसित यापनीय परम्परा को मान्य था, तो उनका कथन सत्य है, क्योंकि भगवती आराधना की टीका में आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन, निशीथ आदि के जो सन्दर्भ दिये गये हैं वे सभी शौरसेनी से प्रभावित हैं। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि आगमों की रचना शौरसेनी में हुई थी और बाद में वे अर्धमागधी में रूपान्तरित किये गये। ज्ञातव्य है कि यह माथुरी वाचना स्कंदिल के समय महावीर निर्वाण के लगभग आठ सौ वर्ष पश्चात् हुई थी और उसमें आगमों की वाचना हुई, वे सभी उसके पूर्व अस्तित्व में थे। यापनीयों ने आगमों के इसी शौरसेनी प्रभावित संस्करण को मान्य किया था, किन्तु दिगम्बरों को तो वे आगम भी मान्य नहीं थे, क्योंकि उनके अनुसार तो इस माथुरी वाचना के लगभग दो सौ वर्ष पूर्व ही आगम साहित्य विलुप्त हो चुका था। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, व्यवहार, निशीथ आदि तो ई०पू० चौथी शती से दूसरी शती तक की रचनाएँ हैं, जिसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। ज्ञातव्य है कि मथुरा का जैन विद्या के केन्द्र के रूप में विकास ई०पू० प्रथम शती से ही हुआ है और उसके पश्चात् ही इन आगमों पर शौरसेनी प्रभाव आया होगा।

आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन कब और कैसे?

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि स्कंदिल की इस माथुरी वाचना के समय ही समानान्तर रूप से एक वाचना वल्लभी (गुजरात) में नागार्जुन की अध्यक्षता में हुई थी और इसी काल में उन पर महाराष्ट्री प्रभाव भी आया क्योंकि उस क्षेत्र की प्राकृत महाराष्ट्री प्राकृत थी। इसी महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित आगम आज तक श्वेताम्बर परम्परा में मान्य हैं। अतः इस तथ्य को भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आगमों के महाराष्ट्री प्रभावित और शौरसेनी प्रभावित संस्करण जो लगभग ईसा की चतुर्थ-पञ्चम शती में अस्तित्व में आये, उनका मूल आधार अर्धमागधी आगम ही थे। यह भी ज्ञातव्य है कि न तो स्कंदिल की माथुरी वाचना में और न नागार्जुन की वलभी वाचना में आगमों की भाषा में सोच-समझ पूर्वक कोई परिवर्तन किया गया था। वास्तविकता यह है कि उस युग तक आगम कण्ठस्थ चले आ रहे थे और कोई भी कण्ठस्थ ग्रन्थ स्वाभाविक रूप से कण्ठस्थ करने वाले व्यक्ति की क्षेत्रीय बोली से अर्थात् उच्चारण शैली से अप्रभावित नहीं रह सकता है, यही कारण था कि जो उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ मथुरा में एकत्रित हुआ उसके आगम पाठ उस क्षेत्र की बोली-शौरसेनी से प्रभावित हुए और जो पश्चिमी भारत का निर्ग्रन्थ संघ वलभी में एकत्रित हुआ उसके आगम पाठ उस क्षेत्र की बोली महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुए। पुनः यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन दोनों वाचनाओं में सम्पादित आगमों का मूल आधार तो अर्धमागधी आगम ही थे, यही कारण है कि शौरसेनी आगम न तो शुद्ध शौरसेनी में हैं और न वलभी वाचना के आगम शुद्ध महाराष्ट्री में हैं, उन दोनों में अर्धमागधी के शब्द रूप तो उपलब्ध होते ही हैं। शौरसेनी आगमों में तो अर्धमागधी के साथ-साथ महाराष्ट्री प्राकृत के शब्द रूप भी बहुलता से मिलते हैं, यही कारण है कि भाषाविद् उनकी भाषा को जैन शौरसेनी और जैन महाराष्ट्री कहते हैं। दुर्भाग्य तो यह है कि जिन शौरसेनी आगमों की दुहाई दी जा रही है, उनमें से अनेक ५० प्रतिशत से अधिक अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्य आगमों मे प्राकृत के रूपों का जो वैविध्य है उसके कारणों की विस्तृत चर्चा मैंने अपने लेख ''जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन' में की है।

क्या शौरसेनी आगमों के भाषिक स्वरूप में एकरूपता है?

किन्तु डॉ० सुदीप जैन का दावा है कि— ''आज भी शौरसेनी आगम-साहित्य में भाषिक तत्त्व की एकरूपता है, जबकि अर्धमागधी आगम-साहित्य में भाषा के विविध रूप पाये जाते हैं। उदाहरणस्वरूप शौरसेनी में सर्वत्र ''ण'' का प्रयोग मिलता है, कहीं भी 'न' का प्रयोग नहीं है, जबकि अर्धमागधी में नकार के साथ-साथ णकार का प्रयोग भी विकल्पतः मिलता है। यदि शौरसेनी युग में नकार का प्रयोग अलग भाषा में प्रचलित होता तो दिगम्बर साहित्य में कहीं तो विकल्प से प्राप्त होता।'' (प्राकृतविद्या जुलाई-सितम्बर, ९६, पृ०७)।

यहाँ डॉ० सुदीप जैन ने दो बातें उठाई हैं— प्रथम शौरसेनी आगम साहित्य की भाषिक एकरूपता की और दूसरी 'ण' कार और 'न' कार की। क्या सुदीप जी, आपने शौरसेनी आगम साहित्य के उपलब्ध संस्करणों का भाषाशास्त्र की दृष्टि से कोई प्रामाणिक अध्ययन किया है? यदि आपने किया होता तो आप ऐसा खोखला दावा प्रस्तुत नहीं करते? आप केवल 'ण' कार का ही उदाहरण क्यों देते हैं— वह तो महाराष्ट्री और शौरसेनी दोनों में सामान्य है। दूसरे शब्द रूपों की चर्चा क्यों नहीं करते है? नीचे मैं दिगम्बर शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों से ही कुछ उदाहरण दे रहा हूँ, जिनसे उनके भाषिकतत्त्व की एकरूपता का दावा कितना खोखला है यह सिद्ध हो जाता है। मात्र यही नहीं इससे यह भी सिद्ध होता है कि शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थ न केवल अर्धमागधी से प्रभावित हैं, अपितु उससे परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत से भी प्रभावित हैं —

१. आत्मा के लिये अर्धमागधी में आता, अत्ता, अप्पा आदि शब्द रूपों का प्रयोग उपलब्ध है, जबकि शौरसेनी में ''द'' श्रुति के कारण ''आदा'' रूप बनता है। समयसार मे ''आदा'' के साथ-साथ ''अप्पा'' शब्द रूप जो कि अर्धमागधी का है अनेक बार प्रयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में आया है। केवल समयसार में ही नहीं, अपितु नियमसार (१२०, १२१,१८३) आदि में भी "अप्पा" शब्द का प्रयोग है।

२. श्रुत का शौरसेनी रूप "सुद" बनता है। शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर "सुद" "सुदकेवली" शब्द के प्रयोग भी हुए हैं, जबकि समयसार (वर्णी ग्रन्थमाला, गाथा ९ एवं १०) में स्पष्ट रूप में "सुयकेवली" "सुयणाण" शब्दरूपों का भी प्रयोग मिलता है और ये दोनों महाराष्ट्री शब्द रूप हैं तथा परवर्ती भी हैं। अर्धमागधी में तो सदैव 'सुत' शब्द का प्रयोग होता है।

३. शौरसेनी "द" श्रुतिप्रधान है साथ ही उसमें "लोप" की प्रवृत्ति अत्यल्प है, अतः उसके क्रिया रूप "हवदि, होदि, कुणदि, गिण्हदि, कुव्वदि, परिणमदि, भण्णदि, पस्सदि आदि बनते हैं। इन क्रिया रूपों का प्रयोग उन ग्रन्थों में हुआ भी है, किन्तु उन्हीं ग्रन्थों के क्रिया रूपों पर महाराष्ट्री प्राकृत का कितना व्यापक प्रभाव है, इसे निम्न उदाहरणों से जाना जा सकता है —

जाणइ (गाथा सं. १०), हवई (११,३१५,३८६,३८४), मुणइ (३२), वुच्चइ (४५), कुव्वइ (८१,२८६,३१९,३२१,३२५,३४०), परिणमइ (७६,७९,८०), (ज्ञातव्य है कि समयसार के इसी संस्करण की गाथा क्रमांक ७७,७८,७९, में परिणमदि रूप भी मिलता है)। इसी प्रकार के अन्य महाराष्ट्री प्राकृत के रूप, जैसे वेयई (८४), कुणई (७१,९६,२८९,२९३,३२२,३२६), होइ (९४,१९७,३०६,३४९, ३५८), करेई (९४,२३७,२३८,३२८,३४८), हवई (४१,३२६, ३२९), जाणई (१८५,३१६,३१९,३२०,३६१), बहइ (१८९), सेवइ (१९७), मरइ (२५७,२९०), (जबकि गाथा २५८ में मरदि है), पावइ (२९१,२९२), घिप्पइ (२९६), उप्पज्जइ (३०८), विणस्सइ (३१२,३४५), दीसइ (३२३), आदि भी मिलते हैं (समयसार वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी)। ये तो कुछ ही उदाहरण हैं— ऐसे अनेक महाराष्ट्री प्राकृत के क्रिया रूप समयसार में उपलब्ध हैं। न केवल समयसार अपितु नियमसार, पंचास्तिकायसार, प्रवचनसार आदि की भी यही स्थिति है।

बारहवीं शती में रचित वसुनन्दिकृत श्रावकाचार (भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण) की स्थिति तो कुन्दकुन्द के इन ग्रन्थों से भी बदतर है, उसकी प्रारम्भ की सौ गाथाओं में ४० प्रतिशत क्रिया रूप महाराष्ट्री प्राकृत के हैं।

इससे फलित यह होता है कि तथाकथित शौरसेनी आगमों के भाषागत स्वरूप में तो अर्धमागधी आगमों की अपेक्षा भी न केवल अधिक वैविध्य है, अपितु उस महाराष्ट्री प्राकृत का भी व्यापक प्रभाव है, जिसे सुदीप जी शौरसेनी से परवर्ती मान रहे हैं। यदि ये ग्रन्थ प्राचीन होते तो इन पर अर्धमागधी और महाराष्ट्री का प्रभाव कहाँ से आता? प्रो. ए. एन. उपाध्ये ने प्रवचनसार की भूमिका में स्पष्टतः स्वीकार किया है कि उसकी भाषा पर अर्धमागधी का प्रभाव है। प्रो. खड़बड़ी ने तो षट्खण्डागम की भाषा को भी शुद्ध शौरसेनी नहीं माना है।

'न' कार और 'ण' कार में कौन प्राचीन

अब हम णकार और नकार के प्रश्न पर आते हैं। भाई सुदीप जी आपका यह कथन सत्य है कि अर्धमागधी में नकार और णकार दोनों पाये जाते हैं। किन्तु दिगम्बर शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में सर्वत्र णकार का पाया जाना यही सिद्ध करता है कि जिस शौरसेनी को आप अरिष्टनेमि के काल से प्रचलित प्राचीनतम प्राकृत कहना चाहते हैं, उस णकार प्रधान शौरसेनी का जन्म तो ईसा की तीसरी शताब्दी तक हुआ भी नहीं था। "ण" की अपेक्षा न का प्रयोग प्राचीन है। ई.पू. तृतीय शती के अशोक के अभिलेख एवं ई.पू. द्वितीय शती के खारवेल के शिलालेख से लेकर मथुरा के शिलालेख (ई.पू. दूसरी शती से ईसा की दूसरी शती तक) इन लगभग ८० जैन शिलालेखों में एक भी णकार का प्रयोग नहीं है। इनमें शौरसेनी प्राकृत के रूपों यथा "णमो" "अरिहंताणं" और "णमो वड्ढमाणं" का सर्वथा अभाव है। यहाँ हम केवल उन्हीं प्राचीन शिलालेखों को उद्धृत कर रहे हैं, जिनमें इन शब्दों का प्रयोग हुआ है— ज्ञातव्य है कि ये सभी अभिलेखीय साक्ष्य जैन शिलालेख संग्रह, भाग २ से प्रस्तुत हैं, जो दिगम्बर जैन समाज द्वारा ही प्रकाशित हैं —

१. हाथीगुंफा बिहार का शिलालेख— प्राकृत, जैन सम्राट् खारवेल, मौर्यकाल १६५वाँ वर्ष, पृ.४ लेख क्रमाङ्क २- नमो अरहंतानं, नमो सवसिधानं
२. बैकुण्ठ स्वर्गपुरी गुफा, उदयगिरि बिहार, प्राकृत, मौर्यकाल १६५वॉ वर्ष लगभग ई.पू. दूसरी शती पृ.११, ले.क्र. 'अरहन्तपसादन'।
३. मथुरा, प्राकृत महाक्षत्रप शोडाशके ८१ वर्ष का पृ.१२, क्रमाङ्क ५, 'नम अरहतो वधमानस'।
४. मथुरा, प्राकृत काल निर्देश नहीं दिया है, किन्तु जे.एफ.फ्लीट के अनुसार लगभग १४-१३ ई.पूर्व का होना चाहिए, पृ. १५, क्रमाङ्क ८, **'अरहतो वर्धमानस्य'**।
५. मथुरा, प्राकृत सम्भवतः १४-१३, ई.पू. प्रथमशती, पृ.१५, लेख क्रमाङ्क १०, 'मा अरहतपूजा'।
६. मथुरा, प्राकृत पृ.१७, क्रमाङ्क १४, 'मा अहतानं **श्रमणश्रविका'**।
७. मथुरा, प्राकृत पृ.१७, क्रमाङ्क १५, 'नमो अरहंतानं'।
८. मथुरा, प्राकृत पृ.१८, क्रमाङ्क १६, 'नमो अरहतो महाविरस'।
९. मथुरा, प्राकृत हुविष्क संवत् ३९- हस्तिस्तम्भ, पृ.३४, क्रमाङ्क ४३, 'अयर्येन रुद्रदासेन' अरहंतनं पुजाये।
१०. मथुरा, प्राकृत भग्न वर्ष ९३, पृ.४६, क्रमाङ्क ६७, 'नमो अर्हतो महाविरस्य'।
११. मथुरा, प्राकृत वासुदेव सं.९८, पृ.४७, क्रमाङ्क ६०, 'नमो अरहतो महावीरस्य'।
१२. मथुरा, प्राकृत पृ.४८, क्रमाङ्क ७१, 'नमो अरहंतानं सिहकसं'।
१३. मथुरा, प्राकृत भग्न, पृ.४८, क्रमाङ्क ७२, 'नमो अरहंतान'।
१४. मथुरा, प्राकृत भग्न, पृ.४८, क्रमाङ्क ७३, 'नमो अरहंतान'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. मथुरा, प्राकृत भग्न, पृ॰४८, क्रमाङ्क ७५, 'अरहंतान वधमानस्य'।
१६. मथुरा, प्राकृत भग्न, पृ॰५१, क्रमाङ्क८० 'नमो अरहंतान..द्रन''।

शूरसेन प्रदेश, जहाँ से शौरसेनी प्राकृत का जन्म हुआ, वहाँ के शिलालेखों में दूसरी-तीसरी शती तक णकार एवं 'द' श्रुति के प्रयोग का अभाव यही सिद्ध करता है कि दिगम्बर आगमों एवं नाटकों की शौरसेनी का जन्म ईसा की दूसरी शती के पूर्व का नहीं है, जबकि नकार प्रधान अर्धमागधी का प्रयोग तो अशोक के अभिलेखों से अर्थात् ई॰पू॰ तीसरी शती से सिद्ध होता है। इससे यही फलित होता है कि अर्धमागधी आगम प्राचीन थे, आगमों का शब्द रूपान्तरण अर्धमागधी से शौरसेनी में हुआ है, न कि शौरसेनी से अर्धमागधी में। दिगम्बर मान्य आगमों की शौरसेनी की जिस प्राचीनता का बढ़-चढ़ कर दावा किया जाता है, वह अर्धमागधी और महाराष्ट्री दोनों से ही प्रभावित है और न केवल भाषायी स्वरूप के आधार पर अपितु विषय-वस्तु के आधार पर भी ईसा की चौथी-पाँचवी शती के पूर्व का नहीं है।

यदि शौरसेनी प्राचीनतम प्राकृत है, तो फिर सम्पूर्ण देश में ईसा की तीसरी-चौथी शती तक एक भी अभिलेख शौरसेनी प्राकृत में क्यों नहीं मिलता है। अशोक के अभिलेख, खारवेल के अभिलेख, बलडी के अभिलेख और मथुरा के शताधिक अभिलेख कोई भी तो शौरसेनी प्राकृत में नहीं हैं। इन सभी अभिलेखों की भाषा क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी ही है। अत: उसे अर्धमागधी तो कहा जा सकता है, किन्तु शौरसेनी कदापि नहीं कहा जा सकता है। अत: प्राकृतों में अर्धमागधी ही प्राचीन है, क्योंकि मथुरा के प्राचीन अभिलेखों में भी 'नमो अरहंतानं', 'नमो वधमानस' आदि अर्धमागधी शब्द रूप मिलते हैं। श्वेताम्बर आगमों एवं अभिलेखों में आये 'अरहंतानं' पाठ को तो प्राकृत-विद्या में खोटे सिक्के की तरह बताया गया है, इसका अर्थ है कि यह पाठ शौरसेनी का नहीं है (प्राकृत-विद्या, अक्टूबर-दिसम्बर ९४, पृ॰१०-११)। अत: शौरसेनी उसके बाद ही विकसित हुई है।

शौरसेनी आगम और उनकी प्राचीनता

जब हम आगम की बात करते हैं तो हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आचाराङ्ग आदि द्वादशाङ्गी जिन्हें श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय परम्परा आगम कहकर उल्लेख करती हैं, वे सभी मूलत: अर्धमागधी में निबद्ध हुए हैं। चाहे श्वेताम्बर परम्परा में नन्दीसूत्र में उल्लिखित आगम हो, चाहे मूलाचार, भगवती आराधना और उनकी टीकाओं में या तत्त्वार्थ और उसकी दिगम्बर टीकाओं में उल्लिखित आगम हो, अथवा अङ्गपण्णत्ति एवं धवला के अङ्ग और अङ्ग बाह्य के रूप में उल्लिखित आगम हो, उनमें से एक भी ऐसा नहीं है जो शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध रहा हो। हाँ इतना अवश्य है कि इनमें से कुछ के शौरसेनी प्राकृत से प्रभावित संस्करण माथुरी वाचना के लगभग चतुर्थ शती के समय अस्तित्व में अवश्य आये थे, किन्तु इन्हें शौरसेनी आगम कहना उचित नहीं होगा, वस्तुत: ये आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, ऋषिभाषित आदि श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों के ही शौरसेनी संस्करण थे, जो यापनीय परम्परा में मान्य थे और जिनकी भाषिक स्वरूप और कुछ पाठ भेदों को छोड़कर श्वेताम्बर मान्य आगमों से समरूपता थी। इनके स्वरूप आदि के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मैंने ''जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय'' नामक ग्रन्थ के तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में की है। इच्छुक पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं।

वस्तुत: आज जिन्हें हम शौरसेनी आगम के नाम से जानते हैं उनमें मुख्यत: निम्न ग्रन्थ आते हैं —

अ. यापनीय

१. कसायपाहुड, लगभग ईसा की चौथी शती, गुणधर
२. षट्खण्डागम, ईसा की पाँचवीं शती का उत्तरार्ध, पुष्पदंत और भूतबली
३. भगवतीआराधना, ईसा की छठीं शती, शिवार्य
४. मूलाचार, ईसा की छठीं शती, वट्टकेर

ज्ञातव्य है कि ये सभी ग्रन्थ मूलत: यापनीय परम्परा के हैं और इनमें अनेक गाथाएँ श्वेताम्बर मान्य आगमों, विशेष रूप से निर्युक्तियों और प्रकीर्णकों के समरूप हैं।

ब. कुन्दकुन्द द्वारा रचित ईसा की लगभग छठी शती के ग्रन्थ

५. समयसार
६. नियमसार
७. प्रवचनसार
८. पञ्चास्तिकायसार
९. अष्टपाहुड (इनका कुन्दकुन्द द्वारा रचित होना सन्दिग्ध है, क्योंकि इसकी भाषा में अपभ्रंश के शब्द भी पाये जाते हैं)।

स अन्य ग्रन्थ, ईसा की छठी शती के पश्चात्

१०. तिलोयपण्णत्ति-यतिवृषभ
११. लोकविभाग
१२. जम्बूद्वीपपण्णत्ति
१३. अङ्गपण्णत्ति
१४. क्षपणसार
१५. गोम्मटसार (दसवीं शती)

किन्तु इनमें से कषायपाहुड को छोड़कर कोई भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जो पाँचवीं शती के पूर्व का हो। ये सभी ग्रन्थ गुणस्थान सिद्धान्त एवं सप्तभङ्गी की चर्चा अवश्य करते हैं और गुणस्थान की चर्चा जैन दर्शन में पांचवीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में अनुपस्थित है। श्वेताम्बर आगमों में समवायाङ्ग और आवश्यकनिर्युक्ति की दो प्रक्षिप्त गाथाओं को छोड़कर गुणस्थान की चर्चा पूर्णत: अनुपस्थित है, जबकि षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में इनकी चर्चा पायी जाती है, अत: ये सभी ग्रन्थ उनसे परवर्ती हैं। इसी प्रकार उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र मूल और उसके स्वोपज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाष्य में भी गुणस्थान की चर्चा अनुपस्थित है, जबकि इसकी परवर्ती टीकाएँ गुणस्थान की विस्तृत चर्चा प्रस्तुत करती हैं। उमास्वाति का काल तीसरी-चौथी शती के लगभग है। अत: यह निश्चित है कि गुणस्थान का सिद्धान्त पाँचवीं शती में अस्तित्व में आया है। अत: शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध कोई भी ग्रन्थ जो गुणस्थान का उल्लेख कर रहा है, ईसा की पाँचवीं शती के पूर्व का नहीं है। प्राचीन शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में मात्र कसायपाहुड ही ऐसा है जो स्पष्टत: गुणस्थानों का उल्लेख नहीं करता है, किन्तु उसमें भी प्रकारान्तर से १२ गुणस्थानों की चर्चा उपलब्ध है, अत: वह भी आध्यात्मिक विकास की उन दस अवस्थाओं, जिनका उल्लेख आचाराङ्गनिर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र में है, से परवर्ती और गुणस्थान सिद्धान्त के विकास के संक्रमण काल की रचना है, अत: उसका काल भी चौथी से पाँचवीं शती के बीच सिद्ध होता है।

शौरसेनी की प्राचीनता का दावा, कितना खोखला

शौरसेनी की प्राचीनता का गुणगान इस आधार भी किया जाता है कि यह नारायण कृष्ण और तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि की मातृभाषा रही है, क्योंकि इन दोनों महापुरुषों का जन्म शूरसेन जनपद में हुआ था और ये शौरसेनी प्राकृत में ही अपना वाक् व्यवहार करते थे। डॉ॰सुदीप जी के शब्दों में "इन दोनों महापुरुषों के प्रभावक व्यक्तित्व के महाप्रभाव से शूरसेन जनपद में जन्मी शौरसेनी प्राकृत भाषा को सम्पूर्ण आर्यावर्त में प्रसारित होने का सुअवसर मिला था।" (प्राकृतविद्या-जुलाई-सितम्बर ९६, पृ॰६)।

यदि हम एक बार उनके इस कथन को मान भी लें, तो प्रश्न उठता है अरिष्टनेमि के पूर्व नमि मिथिला में जन्मे थे, वासुपूज्य चम्पा में जन्मे थे, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ और श्रेयांस काशी जनपद में जन्मे थे, यही नहीं प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव और मर्यादा पुरुषोत्तम राम अयोध्या में जन्मे थे। ये सभी क्षेत्र तो मगध के ही निकटवर्ती हैं, अत: इनकी मातृभाषा तो अर्धमागधी रही होगी। भाई सुदीप जी के अनुसार यदि शौरसेनी अरिष्टनेमि जितनी प्राचीन है, तो फिर अर्धमागधी तो ऋषभ जितनी प्राचीन सिद्ध होती है, अत: शौरसेनी से अर्धमागधी प्राचीन ही है।

यदि शौरसेनी प्राचीन होती तो सभी प्राचीन अभिलेख और प्राचीन आगमिक ग्रन्थ शौरसेनी में मिलते, किन्तु ईसा की चौथी, पाँचवीं शती से पूर्व का कोई भी जैन ग्रन्थ और अभिलेख शौरसेनी में उपलब्ध क्यों नहीं होता है? पुन: नाटकों में भी भास के समय से अर्थात् ईसा की दूसरी शती से ही शौरसेनी के प्रयोग (वाक्यांश) उपलब्ध होते हैं।

नाटकों में शौरसेनी प्राकृत की उपलब्धता के आधार पर उसकी प्राचीनता का गुणगान किया जाता है, मैं विनम्रतापूर्वक पूछना चाहूँगा कि क्या इन उपलब्ध नाटकों में कोई भी नाटक ईसा की दूसरी-तीसरी शती से पूर्व का है? फिर उन्हें शौरसेनी की प्राचीनता का आधार कैसे माना जा सकता है। मात्र नाटक ही नहीं, वे शौरसेनी प्राकृत का एक भी ऐसा ग्रन्थ या अभिलेख दिखा दें, जो अर्धमागधी आगमों और मागधी प्रधान अशोक, खारवेल, आदि के अभिलेखों से प्राचीन हो। अर्धमागधी के अतिरिक्त जिस महाराष्ट्री प्राकृत को वे शौरसेनी से परवर्ती बता रहे हैं, उसमें सातवाहन नरेश हाल की गाथा सप्तशती लगभग प्रथम शती में रचित है और शौरसेनी के किसी भी ग्रन्थ से प्राचीन है।

पुन: मैं डॉ॰सुदीप के निम्न कथन की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना चाहूँगा, वे प्राकृत-विद्या, जुलाई-सितम्बर ९६ में लिखते हैं कि दिगम्बरों के ग्रन्थ उस शौरसेनी प्राकृत में हैं, जिससे 'मागधी' आदि प्राकृतों का जन्म हुआ, इस सम्बन्ध में मेरा उनसे निवेदन है कि मागधी के सम्बन्ध में 'प्रकृति: शौरसेनी' (प्राकृतप्रकाश, ११/२) इस कथन की वे जो व्याख्या कर रहे हैं वह भ्रान्त है और वे स्वयं भी शौरसेनी के सम्बन्ध में 'प्रकृति: संस्कृतम्' (प्राकृतप्रकाश, १२/२), इस सूत्र की व्याख्या में 'प्रकृति:' का जन्मदात्री यह अर्थ अस्वीकार कर चुके हैं। इसकी विस्तृत समीक्षा हमने अग्रिम पृष्ठों में की है। इसके प्रत्युत्तर में मेरा दूसरा तर्क यह है कि यदि शौरसेनी प्राकृत ग्रन्थों के आधार पर ही मागधी के प्राकृत आगमों की रचना हुई, तो उनमें किसी भी शौरसेनी प्राकृत के ग्रन्थ का उल्लेख क्यों नहीं है? श्वेताम्बर आगमों में वे एक भी सन्दर्भ दिखा दें, जिनमें भगवतीआराधना, मूलाचार, षट्खण्डागम, तिलोयपण्णत्ति, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार आदि का उल्लेख हुआ हो। टीकाओं में भी मलयगिरि (तेरहवीं शती) ने मात्र 'समयपाहुड' का उल्लेख किया है। इसके विपरीत मूलाचार, भगवतीआराधना और षट्खण्डागम की टीकाओं में एवं तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि सभी दिगम्बर टीकाओं में इन आगमों एवं निर्युक्तियों के उल्लेख हैं। भगवतीआराधना की टीका में तो आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन, कल्प तथा निशीथ से अनेक अवतरण भी दिये गये हैं। मूलाचार में न केवल अर्धमागधी आगमों का उल्लेख है, अपितु उनकी सैकड़ों गाथाएँ भी हैं। मूलाचार में आवश्यकनिर्युक्ति, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, चन्द्रवेध्यक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि की अनेक गाथाएँ अपने शौरसेनी शब्द रूपों में यथावत् पायी जाती हैं।

दिगम्बर परम्परा में जो प्रतिक्रमणसूत्र उपलब्ध हैं, उसमें ज्ञातासूत्र के उन्हीं १९ अध्ययनों के नाम मिलते हैं, जो वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध ज्ञाताधर्मकथा में उपलब्ध हैं। तार्किक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि जो ग्रन्थ जिन-जिन ग्रन्थों का उल्लेख करता है, वह उनसे परवर्ती ही होता है, पूर्ववर्ती कदापि नहीं। शौरसेनी आगम या आगमतुल्य ग्रन्थों में यदि अर्धमागधी आगमों के नाम मिलते हैं तो फिर शौरसेनी और उसका रचित साहित्य अर्धमागधी आगमों से प्राचीन कैसे हो सकता है?

आदरणीय टॉटिया जी के माध्यम से यह बात भी उठायी गयी कि मूलत: आगम शौरसेनी में रचित थे और कालान्तर में उनका अर्धमागधीकरण (महाराष्ट्रीकरण) किया गया। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि जैनधर्म का उद्भव मगध में हुआ और वहीं से वह दक्षिणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं उत्तरपश्चिमी भारत में फैला। अतः आवश्यकता हुई अर्धमागधी आगमों के शौरसेनी और महाराष्ट्री रूपान्तरण की, न कि शौरसेनी आगमों के अर्धमागधी रूपान्तरण की। सत्य तो यह है कि अर्धमागधी आगम ही शौरसेनी या महाराष्ट्री में रूपान्तरित हुए न कि शौरसेनी आगम अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए। अतः ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना कर मात्र कुतर्क करना कहाँ तक उचित है?

बुद्ध वचनों की मूल भाषा मागधी थी, न कि शौरसेनी

शौरसेनी को मूलभाषा एवं मागधी से प्राचीन सिद्ध करने हेतु आदरणीय प्रो॰नथमल जी टाटिया के नाम से यह भी प्रचारित किया जा रहा है कि "शौरसेनी पालि भाषा की जननी है— यह मेरा स्पष्ट चिन्तन है। पहले बौद्धों के ग्रन्थ शौरसेनी में थे, उनको जला दिया गया और पालि में लिखा गया।" (प्राकृत-विद्या, जुलाई-सितम्बर ९६, पृ॰१०।)

टॉटिया जी जैसा बौद्ध-विद्या का प्रकाण्ड विद्वान् ऐसी कपोल-कल्पित बात कैसे कह सकता है? यह विचारणीय है। क्या ऐसा कोई भी अभिलेखीय या साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल बुद्धवचन शौरसेनी में थे। यदि हो तो आदरणीय टॉटिया जी या भाई सुदीप जी उसे प्रस्तुत करें, अन्यथा ऐसी आधारहीन बातें करना विद्वानों के लिये शोभनीय नहीं है। यह बात तो बौद्ध विद्वान् स्वीकार करते हैं कि मूल बुद्धवचन 'मागधी' में थे और कालान्तर में उनकी भाषा को संस्कारित करके पालि में लिखा गया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार मागधी और अर्धमागधी में किञ्चित् अन्तर है, उसी प्रकार 'मागधी' और 'पालि' में भी किञ्चित् अन्तर है, वस्तुतः 'पालि' भगवान् बुद्ध की मूल भाषा 'मागधी' का एक संस्कारित रूप ही है। यही कारण है कि कुछ विद्वान् पालि को मागधी का ही एक प्रकार मानते हैं, दोनों में बहुत अधिक अन्तर नहीं है। पालि, संस्कृत और मागधी की मध्यवर्ती भाषा है या मागधी का ही साहित्यिक रूप है। यह तो प्रमाणसिद्ध है कि भगवान् बुद्ध ने मागधी में ही अपने उपदेश दिये थे— क्योंकि उनकी जन्मस्थली और कार्यस्थली दोनों मगध और उसका निकटवर्ती प्रदेश ही था। बौद्ध विद्वानों का स्पष्ट मन्तव्य है कि मागधी ही मूल भाषा है। इस सम्बन्ध में बुद्धघोष का निम्न कथन सबसे बड़ा प्रमाण है —

सा मागधी मूलभासा नरायाय आदिकप्पिका ।
ब्रह्मणो च अस्सुतालापा संबुद्धा चापि भासरे ।।

अर्थात् मागधी ही मूलभाषा है, जो सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुई और न केवल ब्रह्मा (देवता) अपितु बालक और बुद्ध भी इसी भाषा में बोलते हैं — (See-The preface to the Childer's Pali Dictionary).

इससे यही फलित होता है मूल बुद्धवचन मागधी में थे। पालि उसी मागधी का संस्कारित साहित्यिक रूप है, जिसमें कालान्तर में बुद्धवचन लिखे गये। वस्तुतः पालि के रूप में मागधी का एक ऐसा संस्करण तैयार किया गया, जिसे संस्कृत के विद्वान् और भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोग भी आसानी से समझ सकें। अतः बुद्धवचन मूलतः मागधी में थे, न कि शौरसेनी में। बौद्ध त्रिपिटक की पालि और जैन आगमों की अर्धमागधी में कितना साम्य है, यह तो सुत्तनिपात और इसिभासियाइं के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। प्राचीन पालि ग्रन्थों एवं प्राचीन अर्धमागधी आगमों की भाषा में अधिक दूरी नहीं है। जिस समय अर्धमागधी और पालि में ग्रन्थ रचना हो रही थी, उस समय तक शौरसेनी एक बोली थी, न कि एक साहित्यिक भाषा। साहित्यिक भाषा के रूप में उसका जन्म तो ईसा की तीसरी शताब्दी के बाद ही हुआ है। संस्कृत के पश्चात् सर्वप्रथम साहित्यिक भाषा के रूप में यदि कोई भाषा विकसित हुई है तो वे अर्धमागधी एवं पालि ही हैं, न कि शौरसेनी। शौरसेनी का कोई भी ग्रन्थ या नाटकों के अंश ईसा की दूसरी-तीसरी शती से पूर्व का नहीं है— जबकि पालि त्रिपिटक और अर्धमागधी आगम-साहित्य के अनेक ग्रन्थ ई॰पू॰ तीसरी-चौथी शती में निर्मित हो चुके थे।

'प्रकृतिः शौरसेनी' का सम्यक् अर्थ

जो विद्वान् मागधी को शौरसेनी से परवर्ती एवं उसी से विकसित मानते हैं वे अपने कथन का आधार वररुचि (लगभग ७वीं शती) के प्राकृतप्रकाश और हेमचन्द्र (लगभग १२वीं शताब्दी) के प्राकृतव्याकरण के निम्न सूत्रों को बताते हैं —

अ. १. प्रकृतिः शौरसेनी ।।१०/२।।
अस्याः पैशाच्याः प्रकृतिः शौरसेनी। स्थितायां शौरसेन्यां पैशाचीलक्षणं प्रवर्तितव्यम् ।
२. प्रकृतिः शौरसेनी ।।११/२।।
अस्याः मागध्याः प्रकृतिः शौरसेनीति वेदितव्यम् ।
वररुचिकृत 'प्राकृत प्रकाश'।

ब. १. शेषं शौरसेनीवत् ।।८/४/३०२।।
मागध्या यदुक्तं, ततोऽन्यच्छौरसेनीवद् द्रष्टव्यम् ।
२. शेषं शौरसेनीवत् ।।८/४/३२३।।
पैशाच्यां यदुक्तं, तओअन्यच्छेषं पैशाच्यां शौरसेनीवद् भवति।
३. शेषं शौरसेनीवत् ।।८/४/४४६।।
अपभ्रंशो प्रायः + शौरसेनीवत् कार्यं भवति।
अप्रभंशभाषायां प्रायः शौरसेनीभाषातुल्यकार्यं जायते; शौरसेनी-भाषायाः ये नियमाः सन्ति, तेषां प्रवृत्तिरपभ्रंशभाषायामपि जायते। — हेमचन्द्रकृत 'प्राकृतव्याकरण'।

अतः इस प्रसङ्ग में तो यह आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम इन सूत्रों में 'प्रकृति' शब्द का वास्तविक तात्पर्य क्या है, इसे समझें। यदि हम यहाँ प्रकृति का अर्थ उद्भव का कारण मानते हैं, तो निश्चित ही इन सूत्रों का यह 'फलित होता है कि मागधी या पैशाची का उद्भव शौरसेनी से हुआ, किन्तु शौरसेनी को एकमात्र प्राचीन भाषा मानने वाले तथा मागधी और पैशाची को उससे उद्भूत मानने वाले ये विद्वान् वररुचि के उस सूत्र को भी उद्धृत क्यों नहीं करते, जिसमें शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत बताई गयी है यथा— "शौरसेनी—१२/१ टीका-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शूरसेनानां भाषा शौरसेनी सा च लक्ष्यलक्षणाभ्यां स्फुटीक्रियते इति वेदितव्यम्। अधिकारसूत्रमेतदापरिच्छेदसमाप्तेः १२/१, प्रकृतिः संस्कृतम्-१२/२। टीका- शौरसेन्यां ये शब्दास्तेषां प्रकृतिः संस्कृतम्।। प्राकृतप्रकाश के उक्त सूत्र के आधार पर हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि शौरसेनी प्राकृत संस्कृत से उत्पन्न हुई। इस प्रकार प्रकृति का अर्थ उद्गम स्थल करने पर उसी प्राकृतप्रकाश के आधार पर यह भी मानना होगा कि मूलभाषा संस्कृत थी और उसी से शौरसेनी उत्पन्न हुई। क्या शौरसेनी के पक्षधर इस सत्य को स्वीकार करने को तैयार हैं? भाई सुदीप जी, जो शौरसेनी के पक्षधर हैं और 'प्रकृतिः शौरसेनी' के आधार पर मागधी को शौरसेनी से उत्पन्न बताते हैं, वे स्वयं भी 'प्रकृति कृतम् —प्राकृतप्रकाश १२/२' के आधार पर यह मानने को तैयार नहीं हैं कि प्रकृति का अर्थ उससे उत्पन्न हुई ऐसा है। वे स्वयं लिखते हैं "आज जितने भी प्राकृत व्याकरणशास्त्र उपलब्ध हैं, वे सभी संस्कृत भाषा में हैं एवं संस्कृत व्याकरण के मॉडल पर निर्मित हैं। अतएव उनमें 'प्रकृतिः संस्कृतम्' जैसे प्रयोग को देखकर कतिपयजन ऐसा भ्रम करने लगते हैं कि प्राकृतभाषा संस्कृत भाषा से उत्पन्न हुई, ऐसा अर्थ कदापि नहीं है— 'प्राकृत-विद्या, जुलाई-सितम्बर ९६, पृ०१४। भाई सुदीप जी, जब शौरसेनी की बारी आती है, तब आप प्रकृति का अर्थ आधार मॉडल करें और जब मागधी का प्रश्न आये तक आप 'प्रकृतिः शौरसेनी' का अर्थ मागधी शौरसेनी से उत्पन्न हुई ऐसा करें— यह दोहरा मापदण्ड क्यों? क्या केवल शौरसेनी को प्राचीन और मागधी को आर्वाचीन बताने के लिये। वस्तुतः प्राकृत और संस्कृत शब्द स्वयं ही इस बात के प्रमाण हैं कि उनमें मूलभाषा कौन सी है?

संस्कृत शब्द स्वयं ही इस बात का सूचक है कि संस्कृत स्वाभाविक या मूल भाषा न होकर एक संस्कारित कृत्रिम भाषा है। प्राकृत शब्दों एवं शब्द रूपों का व्याकरण द्वारा संस्कार करके जो भाषा निर्मित होती है, उसे ही संस्कृत कहा जा सकता है, जिसे संस्कारित न किया गया हो वह संस्कृत कैसे होगी? वस्तुतः प्राकृत स्वाभाविक या सहज भाषा है और उसी को संस्कारित करके संस्कृत भाषा निर्मित हुई है। इस दृष्टि से प्राकृत मूल भाषा है और संस्कृत उससे उद्भूत हुई है।

हेमचन्द्र के पूर्व थारापद्रगच्छीय नमिसाधु ने रुद्रट के काव्यालङ्कार की टीका में प्राकृत और संस्कृत शब्द का अर्थ स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते हैं —

सकल जगज्जन्तेनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। आरिसवयणे सिद्धं, देवाणं अद्धमागहा वाणी इत्यादि, वचनाद्वा प्राक् पूर्वकृतं प्राकृतम्— बालमहिलादि सुबोधं सकलभाषानिबन्धनभूतवचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणात् च समासादितविशेषं सत् संस्कृतादुत्तर-भेदानाप्नोति। — काव्यालङ्कार टीका नमिसाधु, २/१२।

अर्थात् जो संसार के प्राणियों का व्याकरण आदि के लिये भी सुबोध है और पूर्व में निर्मित होने से (प्राक्कृत) सभी भाषाओं की रचना का आधार है वह तो मेघ से निर्मुक्त जल की तरह सहज है, उसी का देश-प्रदेश के आधार पर किया गया संस्कारित रूप संस्कृत और उसके विभिन्न भेद, अर्थात् विभिन्न साहित्यिक प्राकृतें हैं। सत्य यह है कि बोली के रूप में तो प्राकृतें ही प्राचीन हैं और संस्कृत उनका संस्कारित रूप हैं— वस्तुतः संस्कृत विभिन्न प्राकृत बोलियों के बीच सेतु का काम करने वाली एक सामान्य साहित्यिक भाषा के रूप में अस्तित्व में आई।

यदि हम भाषा-विकास की दृष्टि से इस प्रश्न पर चर्चा करें तो भी यह स्पष्ट है कि संस्कृत सुपरिमार्जित; सुव्यवस्थित और व्याकरण के आधार पर सुनिबद्ध भाषा है। यदि हम यह मानते हैं कि संस्कृत से प्राकृतें निर्मित हुई हैं, तो हमें यह भी मानना होगा कि मानव जाति अपने आदिकाल में व्याकरणशास्त्र के नियमों से संस्कृत भाषा बोलती थी और उसी से अपभ्रष्ट होकर शौरसेनी और शौरसेनी से अपभ्रष्ट होकर मागधी, पैशाची, अपभ्रंश आदि भाषाएँ निर्मित हुईं। इसका अर्थ यह भी होगा कि मानव जाति की मूल भाषा अर्थात् संस्कृत से अपभ्रष्ट होते-होते ही विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ, किन्तु मानव जाति और मानवीय संस्कृति के विकास का वैज्ञानिक इतिहास इस बात को कभी भी स्वीकार नहीं करेगा।

वह तो यही मानता है कि मानवीय बोलियों के संस्कार द्वारा ही विभिन्न साहित्यिक भाषाएँ अस्तित्व में आईं अर्थात् विभिन्न बोलियों से ही विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ है। वस्तुतः इस विवाद के मूल में साहित्यिक भाषा और लोक भाषा अर्थात् बोली के अन्तर को नहीं समझ पाना है। वस्तुतः प्राकृतें अपने मूलस्वरूप में भाषाएँ न होकर बोलियाँ रही हैं। यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्राकृत कोई एक बोली नहीं अपितु बोली समूह का नाम है। जिस प्रकार प्रारम्भ में विभिन्न प्राकृतों अर्थात् बोलियों को संस्कारित करके एक सामान्य वैदिक भाषा का निर्माण हुआ, उसी प्रकार कालक्रम में विभिन्न बोलियों को अलग-अलग रूप में संस्कारित करके उनसे विभिन्न साहित्यिक प्राकृतों का निर्माण हुआ। अतः यह एक सुनिश्चित सत्य है कि बोली के रूप में प्राकृतें मूल एवं प्राचीन हैं और उन्हीं से संस्कृत का विकास एक 'कामन' (Common) भाषा के रूप में हुआ। प्राकृतें बोलियाँ हैं और संस्कृत भाषा। बोली को व्याकरण से संस्कारित करके एकरूपता देने से भाषा का विकास होता है। भाषा से बोली का विकास नहीं होता है। विभिन्न प्राकृत बोलियों को आगे चलकर व्याकरण के नियमों से संस्कारित किया गया तो उनसे विभिन्न प्राकृतों का जन्म हुआ। जैसे मागधी बोली से मागधी प्राकृत का, शौरसेनी बोली से शौरसेनी प्राकृत का और महाराष्ट्र की बोली से महाराष्ट्री प्राकृत का विकास हुआ। प्राकृत के शौरसेनी, मागधी, पैशाची, महाराष्ट्री आदि भेद तत्-तत् प्रदेशों की बोलियों से उत्पन्न हुए हैं न कि किसी प्राकृत विशेष से। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि कोई भी प्राकृत व्याकरण सातवीं शती से पूर्व का नहीं है। साथ ही उनमें प्रत्येक प्राकृत के लिये अलग-अलग मॉडल अपनाये गये हैं। वररुचि के लिये शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत है, जबकि हेमचन्द्र के लिये शौरसेनी की प्रकृति (महाराष्ट्री) प्राकृत है, अतः प्रकृति का अर्थ आदर्श या मॉडल है। अन्यथा हेमचन्द्र के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्राकृतों में तीन प्रकार के शब्दरूप मिलते हैं— तद्भव, तत्सम और देशज। देशज शब्द वे हैं जो किसी देश विशेष में किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त हैं। इनके अर्थ की व्याख्या के लिये व्याकरण की कोई आवश्यकता नहीं होती है। तद्भव शब्द वे हैं जो संस्कृत शब्दों से निर्मित हैं जबकि संस्कृत के समान शब्द तत्सम हैं। संस्कृत व्याकरण में दो शब्द प्रसिद्ध हैं— प्रकृति और प्रत्यय। इनमें मूल शब्दरूप को प्रकृति कहा जाता है। मूल शब्द से जो शब्दरूप बना है वह तद्भव है। प्राकृत-व्याकरण संस्कृत शब्द से प्राकृत का तद्भव शब्दरूप कैसे बना है, इसकी व्याख्या करता है। अत: यहाँ संस्कृत को प्रकृति कहने का तात्पर्य मात्र इतना है कि तद्भव शब्दों के सन्दर्भ में संस्कृत शब्द को आदर्श मानकर या मॉडल मानकर यह व्याकरण लिखा गया है। अत: प्रकृति का अर्थ आदर्श या मॉडल है। संस्कृत शब्द रूप को मॉडल/आदर्श मानना इसलिये आवश्यक था कि प्राकृत व्याकरण संस्कृत के जानकार विद्वानों को दृष्टि में रखकर या उनके लिये ही लिखे गये थे। जब डॉ॰ सुदीपजी शौरसेनी के सन्दर्भ में 'प्रकृतिः संस्कृतम्' का अर्थ मॉडल या आदर्श करते हैं तो उन्हें मागधी, पैशाची आदि के सन्दर्भ में प्रकृतिः शौरसेनी का अर्थ भी यही करना चाहिए कि शौरसेनी को मॉडल या आदर्श मानकर इनका व्याकरण लिखा गया है। इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि मागधी आदि प्राकृतों की उत्पत्ति शौरसेनी से हुई है। हेमचन्द्र ने महाराष्ट्री प्राकृत को आधार मानकर शौरसेनी, मागधी आदि प्राकृतों को समझाया है। इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि महाराष्ट्री प्राचीन है या महाराष्ट्री से मागधी, शौरसेनी आदि उत्पन्न हुईं।

प्राचीन कौन? अर्धमागधी या शौरसेनी

इसी सन्दर्भ में टॉटिया जी के नाम से यह भी प्रतिपादित किया गया है कि "यदि वर्तमान अर्धमागधी आगम-साहित्य को ही मूल आगम-साहित्य मानने पर जोर देंगे तो इस अर्धमागधी भाषा का आज से १५०० वर्ष पहले अस्तित्व ही नहीं होने से, इस स्थिति में हमें अपने आगम साहित्य को ही ५००ई॰ के परवर्ती मानना पड़ेगा।" ज्ञातव्य है कि यहाँ भी महाराष्ट्री और अर्धमागधी के अन्तर को न समझते हुए एक भ्रान्ति को खड़ा किया गया है। सर्वप्रथम तो यह समझ लेना चाहिए कि आगमों के प्राचीन अर्धमागधी के 'त' श्रुति प्रधान पाठ चूर्णियों और अनेक प्राचीन प्रतियों में आज भी मिल रहे हैं। उससे निःसन्देह यह सिद्ध होता है कि मूल अर्धमागधी 'त' श्रुति प्रधान थी और उसमें लोप की प्रवृत्ति नगण्य ही थी और यह अर्धमागधी भाषा शौरसेनी और महाराष्ट्री से प्राचीन भी है। यदि श्वेताम्बर आगम शौरसेनी से महाराष्ट्री में जिसे दिगम्बर विद्वान् भ्रान्ति से अर्धमागधी कह रहे हैं, बदले गये तो फिर उनकी प्राचीन प्रतियों में 'त' श्रुति के स्थान पर 'द' श्रुति के पाठ क्यों उपलब्ध नहीं होते हैं जो शौरसेनी की विशेषता है। इस प्रसङ्ग में डॉ॰ टॉटियाजी के नाम से यह भी कहा गया है कि आज भी आचाराङ्गसूत्र आदि की प्राचीन प्रतियों में शौरसेनी के शब्दों की प्रचुरता मिलती है। मैं आदरणीय टॉटियाजी से और भाई सुदीपजी से साग्रह निवेदन करूँगा की वे आचाराङ्ग, ऋषिभाषित, सूत्रकृताङ्ग आदि की किन्हीं भी प्राचीन प्रतियों में 'द' श्रुति प्रधान पाठ दिखला दें। प्राचीन प्रतियों में जो पाठ मिल रहे हैं, वे अर्धमागधी या आर्ष प्राकृत के हैं, न कि शौरसेनी के। यह एक अलग बात है कि कुछ शब्दरूप आर्ष अर्धमागधी और शौरसेनी में समान हैं।

वस्तुत: इन प्राचीन प्रतियों में न तो 'द' श्रुति देखी जाती है और न "न" के स्थान पर "ण" की प्रवृत्ति देखी जाती है, जिसे व्याकरण में शौरसेनी की विशेषता कहा जाता है। सत्य तो यह है कि अर्धमागधी आगमों का ही शौरसेनी रूपान्तरण हुआ है न कि शौरसेनी आगमों का अर्धमागधी रूपान्तरण। यह सत्य है कि न केवल अर्धमागधी आगमों पर अपितु शौरसेनी आगमतुल्य कुन्दकुन्द आदि के ग्रन्थों पर भी महाराष्ट्री की 'य' श्रुति का स्पष्ट प्रभाव है जिसे हम पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं।

क्या पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व अर्धमागधी भाषा एवं श्वेताम्बर अर्धमागधी आगमों का अस्तित्व नहीं था?

डॉ॰सुदीपजी द्वारा टॉटियाजी के नाम से उद्धृत यह कथन कि १५०० वर्ष पहले अर्धमागधी भाषा का अस्तित्व ही नहीं था' पूर्णत: भ्रान्त है। आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, ऋषिभाषित जैसे आगमों को पाश्चात्य विद्वानों ने एक स्वर से ई॰पू॰ तीसरी-चौथी शताब्दी या उससे भी पहले का माना है। क्या उस समय से आगम अर्धमागधी भाषा में निबद्ध न होकर शौरसेनी में निबद्ध थे। ज्ञातव्य है कि 'द' श्रुति प्रधान और 'ण' कार की प्रवृत्ति वाली शौरसेनी का जन्म तो उस समय हुआ ही नहीं था, अन्यथा अशोक के अभिलेखों में और मथुरा (जो शौरसेनी की जन्मभूमि है) के जैन अभिलेखों में कहीं तो इस शौरसेनी के वैशिष्ट्य वाले शब्द रूप उपलब्ध होने चाहिए थे? क्या शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध ऐसा एक भी ग्रन्थ है जो ई॰पू॰ में रचा गया हो? सत्य तो यह है कि भास (ईसा की दूसरी शती) के नाटकों के अतिरिक्त ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पूर्व शौरसेनी में निबद्ध एक भी ग्रन्थ नहीं था। जबकि मागधी के अभिलेख और अर्धमागधी के आगम ई॰पू॰ तीसरी शती से उपलब्ध हो रहे हैं। पुन: यदि ये लोग जिसे अर्धमागधी कह रहें हैं उसे महाराष्ट्री भी मान लें तो उसके भी ग्रन्थ ईसा की प्रथम शताब्दी से उपलब्ध होते हैं। सातवाहन नरेश हाल की गाथा सप्तशती महाराष्ट्री प्राकृत का प्राचीन ग्रन्थ है, जो ई॰पू॰ प्रथम शती से ईसा की प्रथम शती के मध्य रचित है। यह एक संकलन ग्रन्थ है जिसमें अनेक ग्रन्थों से गाथाएँ संकलित की गई हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इसके पूर्व भी महाराष्ट्री प्राकृत में ग्रन्थ रचे गये थे।

कालिदास के नाटक, जिनमें शौरसेनी का प्राचीनतम रूप मिलता है, भी ईसा की चतुर्थ शताब्दी के बाद के ही हैं। कुन्दकुन्द के ग्रन्थ स्पष्ट रूप से न केवल अर्धमागधी आगमों से, अपितु परवर्ती 'य' श्रुति प्रधान महाराष्ट्री से भी प्रभावित हैं, किसी भी स्थिति में ईसा की पाँचवीं, छठीं शताब्दी के पूर्व के सिद्ध नहीं होते हैं। षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में गुणस्थान, सप्तभंगी आदि लगभग ५ वीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शौरसेनी के सम्बन्ध में 'शेषं प्राकृतवत्' (८/०४/२८६) का अर्थ होगा शौरसेनी महाराष्ट्री से उत्पन्न हुई, जो शौरसेनी के पक्षधरों को मान्य नहीं होगा।

क्या अर्धमागधी आगम मूलतः शौरसेनी में थे?

प्राकृत विद्या, जनवरी-मार्च ९६ के सम्पादकीय में डॉ॰सुदीप जैन ने प्रो॰टॉटिया को यह कहते हुए प्रस्तुत किया है कि "श्वेताम्बर जैन साहित्य का भी प्राचीन रूप शौरसेनी प्राकृतमय ही था, जिसका स्वरूप क्रमशः अर्धमागधी के रूप में बदल गया"। इस सन्दर्भ में हमारा प्रश्न यह है कि यदि प्राचीन श्वेताम्बर आगम-साहित्य शौरसेनी प्राकृत में [illegible], तो फिर वर्तमान उपलब्ध पाठों में कहीं भी शौरसेनी की 'द' श्रुति का प्रभाव क्यों नहीं दिखाई देता। इसके विपरीत हम यह पाते हैं कि दिगम्बर परम्परा में मान्य शौरसेनी आगम-साहित्य पर अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत का व्यापक प्रभाव है, इस तथ्य की सप्रमाण चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा के शीर्षस्थ विद्वान् प्रो॰ए॰एन॰ उपाध्ये का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रवचनसार की भाषा पर श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा का पर्याप्त प्रभाव है और अर्धमागधी भाषा की अनेक विशेषताएँ उत्तराधिकार के रूप में इस ग्रन्थ को प्राप्त हुई हैं।

इसमें स्वर-परिवर्तन, मध्यवर्ती व्यञ्जनों के परिवर्तन, 'य' श्रुति इत्यादि अर्धमागधी भाषा के समान ही मिलते हैं। दूसरे वरिष्ठ दिगम्बर विद्वान् प्रो॰खडबडी का कहना है कि षट्खण्डागम की भाषा शुद्ध शौरसेनी नहीं है। इस प्रकार जहाँ एक ओर दिगम्बर विद्वान् इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर रहे हैं कि दिगम्बर आगमों पर श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा का प्रभाव है वहाँ यह कैसे माना जा सकता है कि श्वेताम्बर आगम शौरसेनी से अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए। अपितु इससे तो यही फलित होता है कि अर्धमागधी आगम ही शौरसेनी में रूपान्तरित हुए हैं। पुनः अर्धमागधी भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में दिगम्बर विद्वानों में जो भ्रांति प्रचलित रही है उसका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। सम्भवतः ये विद्वान् अर्धमागधी और महाराष्ट्री के अन्तर को स्पष्ट रूप से नहीं समझ पाये हैं तथा सामान्यतः अर्धमागधी और महाराष्ट्री को पर्यायवाची मानकर ही चलते रहे हैं। यही कारण है कि डॉ॰ए॰एन॰उपाध्ये जैसे विद्वान् भी 'य' श्रुति को अर्धमागधी का लक्षण बताते हैं। जबकि वह मूलतः महाराष्ट्री प्राकृत का लक्षण है, न कि अर्धमागधी का। अर्धमागधी तो 'त' श्रुति प्रधान है।

यह सत्य है कि श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा में कालक्रम में परिवर्तन हुए हैं और उस पर महाराष्ट्री प्राकृत की 'य' श्रुति का प्रभाव आया है, किन्तु यह मानना पूर्णतः मिथ्या है कि श्वेताम्बर आगमों का शौरसेनी से अर्धमागधी में रूपान्तरण हुआ है। वास्तविकता यह है कि अर्धमागधी आगम ही माथुरी और वलभी वाचनाओं के समय क्रमशः शौरसेनी और महाराष्ट्री से प्रभावित हुए हैं।

टॉटिया जी जैसा विद्वान् इस प्रकार की मिथ्या धारणा को प्रतिपादित करे कि शौरसेनी आगम ही अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए— यह विश्वसनीय नहीं लगता है। यदि टॉटिया जी का यह कथन कि पालि त्रिपिटक और अर्धमागधी आगम मूलतः शौरसेनी में थे और फिर पालि और अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए' सत्य है, तो उन्हें या सुदीप जी को इसका प्रमाण प्रस्तुत करना चाहिए।

वस्तुतः जब किसी बोली को साहित्यिक भाषा का रूप दिया जाता है तो एकरूपता के लिये नियम या व्यवस्था आवश्यक होती है और यही नियम भाषा का व्याकरण बनाते हैं। विभिन्न प्राकृतों को जब साहित्यिक भाषा का रूप दिया गया तो उनके लिये भी व्याकरण के नियम आवश्यक हुए और ये व्याकरण के नियम मुख्यतः संस्कृत से गृहीत किये गये। जब व्याकरणशास्त्र में किसी भाषा की प्रकृति बताई जाती है तब वहाँ तात्पर्य होता है कि उस भाषा के व्याकरण के नियमों का मूल आदर्श किस भाषा के शब्द रूप हैं? उदाहरण के रूप में जब हम शौरसेनी के व्याकरण की चर्चा करते हैं तो हम यह मानते हैं कि उसके व्याकरण का आदर्श अपनी कुछ विशेषताओं को छोड़कर जिसकी चर्चा उस भाषा के व्याकरण में होती है, संस्कृत के शब्द रूप हैं।

किसी भी भाषा का जन्म बोली के रूप में पहले होता है फिर बोली से साहित्यिक भाषा का जन्म होता है। जब साहित्यिक भाषा बनती है तब उसके लिये व्याकरण के नियम बनाये जाते हैं, ये व्याकरण के नियम जिस भाषा के शब्दरूपों के आधार पर उस भाषा के शब्दरूपों को समझाते हैं वही भाषा की किसी प्रकृति कहलाते हैं। यह सत्य है कि बोली का जन्म पहले होता है, व्याकरण उसके बाद बनता है। शौरसेनी अथवा प्राकृत की प्रकृति को संस्कृत मानने का अर्थ इतना ही है कि इन भाषाओं के जो भी व्याकरण बने हैं वे संस्कृत शब्द रूपों के आधार पर बने हैं। यहाँ पर यह भी ज्ञातव्य है कि प्राकृत का कोई भी व्याकरण प्राकृत के लिखने या बोलने वालों के लिये नहीं बनाया गया, अपितु, उनके लिये बनाया गया जो संस्कृत में लिखते या बोलते थे। यदि हमें किसी संस्कृत के जानकार व्यक्ति को प्राकृत के शब्द या शब्दरूपों को समझाना हो तो हमें उसका आधार संस्कृत को ही बनाना होगा और उसी के आधार पर यह समझाना होगा कि संस्कृत के किसी शब्द से प्राकृत का कौन सा शब्दरूप कैसे निष्पन्न हुआ है इसलिये जो भी प्राकृत व्याकरण निर्मित किये गये अपरिहार्य रूप से वे संस्कृत शब्दों या शब्दरूपों को आधार मानकर प्राकृत शब्द या शब्दरूपों की व्याख्या करते हैं । संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति कहने का इतना ही तात्पर्य है। इसी प्रकार जब मागधी, पैशाची या अपभ्रंश की 'प्रकृति' शौरसेनी को कहा जाता है तो उसका तात्पर्य होता है, प्रस्तुत व्याकरण के नियमों में इन भाषाओं के शब्दरूपों को शौरसेनी शब्दों का आधार मानकर समझाया गया है। 'प्राकृतप्रकाश' की टीका में वररुचि ने स्पष्टतः लिखा है— शौरसेन्या ये शब्दास्तेषां प्रकृतिः संस्कृतम् (१२/२) अर्थात् शौरसेनी के जो शब्द हैं उनकी प्रकृति या आधार संस्कृत शब्द हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शती में निर्मित अवधारणाओं की उपस्थिति उन्हें श्वेताम्बर आगमों और उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र (लगभग चतुर्थ शती) से परवर्ती ही सिद्ध करती हैं, क्योंकि इनमें ये अवधारणाएँ अनुपस्थित हैं। इस सम्बन्ध में मैंने अपने ग्रन्थ 'गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण' और 'जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय' में विस्तार से प्रकाश डाला है। इस प्रकार सत्य तो यह है कि अर्धमागधी भाषा या अर्धमागधी आगम नहीं, अपितु शौरसेनी भाषा ईसा की दूसरी शती के पश्चात् और शौरसेनी आगम ईसा० की ५ वीं शती के पश्चात् अस्तित्व में आये। अच्छा होगा कि भाई सुदीप जी पहले मागधी और पालि तथा अर्धमागधी और महाराष्ट्री के अन्तर एवं इनके प्रत्येक के लक्षणों तथा जैन आगमिक साहित्य के ग्रन्थों के कालक्रम और जैन इतिहास को तटस्थ दृष्टि से समझ लें और फिर प्रमाण सहित अपनी कलम निर्भीक रूप से चलायें, व्यर्थ की आधारहीन भ्रान्तियाँ खड़ी करके समाज में कटुता के बीज न बोयें।

जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन

जैन आगम मूलत: प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं, किन्तु प्राकृत एक भाषा न होकर, भाषा-समूह है। प्राकृत के इन अनेक भाषिक रूपों का उल्लेख हेमचन्द्र प्रभृति प्राकृत-व्याकरणविदों ने किया है। प्राकृत के जो विभिन्न भाषिक रूप उपलब्ध हैं, उन्हें निम्न भाषिक वर्गों में विभक्त किया जाता है— मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, जैन-शौरसेनी, महाराष्ट्री, जैन-महाराष्ट्री, पैशाची, ब्राचड, चूलिका, ढक्की आदि। इन विभिन्न प्राकृतों से ही आगे चलकर अपभ्रंश के विविध रूपों का विकास हुआ और जिनसे कालान्तर में असमिया, बंगला, उड़िया, भोजपुरी या पूर्वी हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी आदि भारतीय भाषाएँ अस्तित्व में आयीं। अत: प्राकृतें सभी भारतीय भाषाओं की पूर्वज हैं और आधुनिक हिन्दी का विकास भी इन्हीं के आधार पर हुआ।

प्राकृत के सन्दर्भ में हमें एक दो बातें और समझ लेना चाहिए। प्रथम तो यह कि प्राकृत भाषा की आधारगत बहुविधता का कारण यह है कि उसका विकास विविध बोलियों से हुआ है और बोलियों में विविधता होती है। साथ ही उनमें देश कालगत प्रभावों और मुख-सुविधा (उच्चारण-सुविधा) के कारण परिवर्तन होते रहते हैं। प्राकृत निर्झर की भाँति बहती भाषा है उसे व्याकरण में आबद्ध कर पाना सम्भव नहीं है। इसीलिए प्राकृत को "बहुल" अर्थात् विविध वैकल्पिक रूपों वाली भाषा कहा जाता है।

वस्तुत: प्राकृतें अपने मूल रूप में भाषा न होकर बोलियाँ ही रहीं हैं। यहाँ तक कि साहित्यिक नाटकों में भी इनका प्रयोग बोलियों के रूप में ही देखा जाता है और यही कारण है कि मृच्छकटिक जैसे नाटक में अनेक प्राकृतों का प्रयोग हुआ है, उसके विभिन्न पात्र भिन्न-भिन्न प्राकृतें बोलते हैं। इन विभिन्न प्राकृतों में से अधिकांश का अस्तित्व मात्र बोली के रूप में ही रहा, जिनके निदर्शन केवल नाटकों और अभिलेखों में पाये जाते हैं। मात्र अर्द्धमागधी, जैन-शौरसेनी और जैन-महाराष्ट्री ही ऐसी भाषायें हैं, जिनमें जैनधर्म के विपुल साहित्य का सृजन हुआ है। पैशाची प्राकृत के प्रभाव से युक्त मात्र एक ग्रन्थ प्राकृत धम्मपद मिला है। इन्हीं जन-बोलियों को जब एक साहित्यिक भाषा का रूप देने का प्रयत्न जैनाचार्यों ने किया, तो उसमें भी आधारगत विभिन्नता के कारण शब्द-रूपों की विभिन्नता रह गई। सत्य तो यह है कि विभिन्न बोलियों पर आधारित होने के कारण साहित्यिक प्राकृतों में भी शब्द रूपों की यह विविधता रह जाना स्वाभाविक है।

विभिन्न बोलियों की लक्षणगत विशेषताओं के कारण ही प्राकृत भाषाओं के विविध रूप बने हैं। बोलियों के आधार पर विकसित इन प्राकृतों के जो मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि रूप बने हैं, उनमें भी प्रत्येक में वैकल्पिक शब्द-रूप पाये जाते हैं। अत: इन सभी में व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण एकरूपता का अभाव है फिर भी भाषाविदों ने व्याकरण के नियमों के आधार पर उनकी कुछ लक्षणगत विशेषताएँ मान ली हैं जैसे मागधी में "स" के स्थान पर "श", "र" के स्थान पर "ल" का उच्चारण होता है। अत: मागधी में "पुरुष" का "पुलिश" और "राजा" का "लाजा" रूप पाया जाता है, जबकि महाराष्ट्री में "पुरिस" और "राया" रूप बनता है। जहाँ अर्द्धमागधी में "त" श्रुति की प्रधानता है और व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति अल्प है, वहीं शौरसेनी में "द" श्रुति की और महाराष्ट्री में "य" श्रुति की प्रधानता पायी जाती है तथा लोप की प्रवृत्ति अधिक है। दूसरे शब्दों में अर्द्धमागधी में "त" यथावत् रहता है, शौरसेनी में "त" के स्थान पर "द" और महाराष्ट्री में लुप्त-व्यंजन के बाद शेष रहे "अ" का "य" होता है। प्राकृतों में इन लक्षणगत विशेषताओं के बावजूद भी धातु रूपों एवं शब्द-रूपों में अनेक वैकल्पिक रूप तो पाये ही जाते हैं। यहाँ यह भी स्मरण रहे कि नाटकों में प्रयुक्त विभिन्न प्राकृतों की अपेक्षा जैन ग्रन्थों में प्रयुक्त इन प्राकृत भाषाओं का रूप कुछ भिन्न है और किसी सीमा तक उनमें लक्षणगत बहुरूपता भी है। इसीलिए जैन-आगमों में प्रयुक्त मागधी को अर्द्धमागधी कहा जाता है, क्योंकि उसमें मागधी के अतिरिक्त अन्य बोलियों के प्रभाव के कारण मागधी से भिन्न लक्षण भी पाये जाते हैं। जहाँ तब अभिलेखीय प्राकृतों का प्रश्न है उनमें शब्द रूपों की इतनी अधिक विविधता या भिन्नता है कि उन्हें व्याकरण की दृष्टि से व्याख्यायित कर पाना सम्भव ही नहीं है क्योंकि उनकी प्राकृत साहित्यिक प्राकृत न होकर स्थानीय बोलियों पर आधारित है।

यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, वह जैन-शौरसेनी कही जाती है। उसे जैन-शौरसेनी इसलिये कहते हैं कि उसमें शौरसेनी के अतिरिक्त अर्द्धमागधी के भी कुछ लक्षण पाये जाते हैं। उस पर अर्द्धमागधी— का स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है क्योंकि इसमें रचित ग्रन्थों का आधार अर्द्धमागधी आगम ही थे। इसी प्रकार श्वेताम्बर-आचार्यों ने प्राकृत के जिस भाषायी रूप को अपनाया वह जैन-महाराष्ट्री कही जाती है। इसमें महाराष्ट्री के लक्षणों के अतिरिक्त कहीं-कहीं अर्द्धमागधी और शौरसेनी के लक्षण भी पाये जाते हैं, क्योंकि इसमें रचित ग्रन्थों का आधार भी मुख्यत: अर्द्धमागधी और अंशत: शौरसेनी साहित्य रहा है।

अत: जैन-परम्परा में उपलब्ध किसी भी ग्रन्थ की प्राकृत का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप निश्चित करना एक कठिन कार्य है, क्योंकि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता, जो विशुद्ध रूप से किसी एक प्राकृत का प्रतिनिधित्व करता हो। आज उपलब्ध विभिन्न श्वेताम्बर-अर्द्धमागधी-आगमों में चाहे प्रतिशतों में कुछ भिन्नता हो, किन्तु व्यापक रूप से महाराष्ट्री का प्रभाव देखा जाता है। आचारांग और ऋषिभाषित जैसे प्राचीन स्तर के आगमों में अर्द्धमागधी के लक्षण प्रमुख होते हुए भी कहीं-कहीं आंशिक रूप से महाराष्ट्री का प्रभाव आ ही गया है। इसी प्रकार दिगम्बर-परम्परा के शौरसेनी ग्रन्थों में एक ओर अर्द्धमागधी का तो दूसरी ओर महाराष्ट्री का प्रभाव देखा जाता है। कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं जिनमें लगभग ६० प्रतिशत शौरसेनी एवं ४० प्रतिशत महाराष्ट्री पायी जाती है— जैसे वसुनन्दी के श्रावकाचार का प्रथम संस्करण। ज्ञातव्य है कि इसके परवर्ती संस्करणों में शौरसेनीकरण अधिक है। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र महाराष्ट्री का पर्याप्त प्रभाव देखा जाता है। इन सब विभिन्न भाषिक रूपों के पारस्परिक प्रभाव या मिश्रण के अतिरिक्त मुझे अपने अध्ययन के दौरान एक महत्त्वपूर्ण बात यह मिली कि जहाँ शौरसेनी-ग्रन्थों में जब अर्द्धमागधी आगमों के उद्धरण दिये गये, तो वहाँ उन्हें अपने अर्द्धमागधी रूप में न देकर उनका शौरसेनी-रूपान्तरण करके दिया गया है। इसी प्रकार महाराष्ट्री के ग्रन्थों में अथवा श्वेताम्बर-आचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थों में जब भी शौरसेनी के ग्रन्थ का उद्धरण दिया गया, तो सामान्यतया उसे मूल शौरसेनी में न रखकर उसका महाराष्ट्री-रूपान्तरण कर दिया गया। उदाहरण के रूप में भगवती-आराधना की टीका में जो उत्तराध्ययन, आचारांग आदि के उद्धरण पाये जाते हैं, वे उनके अर्द्धमागधी रूप में न होकर शौरसेनी रूप में ही मिलते हैं। इसी प्रकार हरिभद्र ने शौरसेनी प्राकृत के ''यापनीय-तन्त्र'' नामक ग्रन्थ से ''ललितविस्तरा'' में जो उद्धरण दिया, वह महाराष्ट्री प्राकृत में ही पाया जाता है।

इस प्रकार चाहे अर्द्धमागधी-आगम हो या शौरसेनी-आगम, उनके उपलब्ध संस्करणों की भाषा न तो पूर्णतः अर्द्धमागधी है और न ही शौरसेनी। अर्द्धमागधी और शौरसेनी दोनों ही प्रकार के आगमों पर महाराष्ट्री का व्यापक प्रभाव देखा जाता है जो कि इन दोनों की अपेक्षा परवर्ती है। इसी प्रकार महाराष्ट्री प्राकृत के कुछ ग्रन्थों पर परवर्ती अपभ्रंश का भी प्रभाव देखा जाता है। इन आगमों अथवा आगम-तुल्य ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप की विविधता के कारण उनके कालक्रम तथा पारस्परिक आदान-प्रदान को समझने में विद्वानों को पर्याप्त उलझनों का अनुभव होता है, मात्र इतना ही नहीं कभी-कभी इन प्रभावों के कारण इन ग्रन्थों को परवर्ती भी सिद्ध कर दिया जाता है।

आज आगमिक साहित्य के भाषिक स्वरूप की विविधता को दूर करने तथा उन्हें अपने मूल स्वरूप में स्थिर करने के कुछ प्रयत्न भी प्रारम्भ हुए हैं। सर्वप्रथम डॉ. के. ऋषभचन्द्र ने प्राचीन अर्द्धमागधी आगम जैसे— आचारांग, सूत्रकृतांग में आये महाराष्ट्री के प्रभाव को दूर करने एवं उन्हें अपने मूल स्वरूप में लाने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया है क्योंकि एक ही अध्याय या उद्देशक में ''लोय'' और ''लोग'' या ''आया'' और ''आता'' दोनों ही रूप देखे जाते हैं। इसी प्रकार कहीं क्रिया रूपों में भी ''त'' श्रुति उपलब्ध होती है और कहीं उसके लोप की प्रवृत्ति देखी जाती है। प्राचीन आगमों में हुए इन भाषिक परिवर्तनों से उनके अर्थ में भी कितनी विकृति आयी, इसका भी डॉ. चन्द्रा ने अपने लेखों के माध्यम से संकेत किया है तथा यह बताया है कि अर्द्धमागधी ''खेतन्न'' शब्द किस प्रकार ''खेयन्न'' बन गया और उसका जो मूल ''क्षेत्रज्ञ'' अर्थ था वह बदलकर ''खेदज्ञ'' हो गया। इन सब कारणों से उन्होंने पाठ-संशोधन हेतु एक योजना प्रस्तुत की और आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक की भाषा का सम्पादन कर उसे प्रकाशित भी किया है। इसी क्रम में मैंने भी आगम-संस्थान उदयपुर के डॉ. सुभाष कोठारी एवं डॉ. सुरेश सिसोदिया द्वारा आचारांग के विभिन्न प्रकाशित संस्करणों से पाठान्तरों का संकलन करवाया है। इसके विरोध में पहला स्वर श्री जौहरीमल जी पारख ने उठाया है। श्वेताम्बर-विद्वानों में आयी इस चेतना का प्रभाव दिगम्बर-विद्वानों पर भी पड़ा और आचार्य श्री विद्यानन्द जी के निर्देशन में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को पूर्णतः शौरसेनी में रूपान्तरित करने का एक प्रयत्न प्रारम्भ हुआ है, इस दिशा में प्रथम कार्य बलभद्र जैन द्वारा सम्पादित समयसार, नियमसार आदि का कुन्दकुन्द भारती से प्रकाशन है। यद्यपि दिगम्बर-परम्परा में ही पं. खुशालचन्द गोरावाला, पद्मचन्द्र शास्त्री आदि दिगम्बर-विद्वानों ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया।

आज श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं में आगम या आगम रूप में मान्य ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप के पुनः संशोधन की जो चेतना जागृत हुई है, उसका कितना औचित्य है, इसकी चर्चा तो मैं बाद में करूँगा। सर्वप्रथम तो इसे समझना आवश्यक है कि इन प्राकृत आगम-ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में किन कारणों से और किस प्रकार के परिवर्तन आये हैं। क्योंकि इस तथ्य को पूर्णतः समझे बिना केवल एक-दूसरे के अनुकरण के आधार पर अथवा अपनी परम्परा को प्राचीन सिद्ध करने हेतु किसी ग्रन्थ के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन कर देना सम्भवतः इन ग्रन्थों के ऐतिहासिक क्रम एवं काल निर्णय एवं इनके पारस्परिक प्रभाव को समझने में बाधा उत्पन्न करेगा और इससे कई प्रकार के अन्य अनर्थ भी सम्भव हो सकते हैं।

किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि जैनाचार्यों एवं जैन-विद्वानों ने अपने भाषिक व्यामोह के कारण अथवा प्रचलित भाषा के शब्द रूपों के आधार पर प्राचीन स्तर के आगम-ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन किया है। जैन-आगमों की वाचना को लेकर जो मान्यताएँ प्रचलित हैं, उनके अनुसार सर्वप्रथम ई.पू. तीसरी शती में वीर-निर्वाण के लगभग एक सौ पचास वर्ष पश्चात् पाटलीपुत्र में प्रथम वाचना हुई। इसमें उस काल तक निर्मित आगम-ग्रन्थों, विशेषतः अंग-आगमों का सम्पादन किया गया। यह स्पष्ट है कि पटना की यह वाचना मगध में हुई थी और इसलिए इसमें आगमों की भाषा का जो स्वरूप निर्धारित हुआ होगा, वह निश्चित ही मागधी रहा होगा। इसके पश्चात् लगभग ई.पू. प्रथम शती में खारवेल के शासन काल में उड़ीसा में द्वितीय वाचना हुई। यहाँ पर इसका स्वरूप अर्द्धमागधी रहा होगा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु इसके लगभग चार सौ वर्ष पश्चात् स्कंदिल और आर्य नागार्जुन की अध्ययक्षता में क्रमशः मथुरा व वलभी में वाचनाएँ हुई। सम्भव है कि मथुरा में हुई इस वाचना में अर्द्धमागधी आगमों पर व्यापक रूप से शौरसेनी का प्रभाव आया होगा। वलभी की वाचना वाले आगमों में नागार्जुनीय पाठों के तो उल्लेख मिलते हैं, किन्तु स्कंदिल की वाचना के पाठ-भेदों का कोई निर्देश नहीं है। स्कंदिल की वाचना सम्बन्धी पाठभेदों का यह अनुल्लेख विचारणीय है। नन्दीसूत्र में स्कंदिल के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उनके अनुयोग (आगम-पाठ) ही दक्षिण भारत क्षेत्र में आज भी प्रचलित हैं। सम्भवतः यह संकेत यापनीय-आगमों के सम्बन्ध में होगा। यापनीय-परम्परा जिन आगमों को मान्य कर रही थी, उसमें व्यापक रूप से भाषिक परिवर्तन किया गया था और उन्हें शौरसेनी रूप दे दिया गया था। यद्यपि आज प्रमाण के अभाव में निश्चित रूप से यह बता पाना कठिन है कि यापनीय-आगमों की भाषा का स्वरूप क्या था, क्योंकि यापनीयों द्वारा मान्य और व्याख्यायित वे आगम उपलब्ध नहीं हैं। यद्यपि अपराजित के द्वारा दशवैकालिक पर टीका लिखे जाने का निर्देश प्राप्त होता है, किन्तु वह टीका भी आज प्राप्त नहीं है। अतः यह कहना तो कठिन है कि यापनीय-आगमों की भाषा कितनी अर्द्धमागधी थी और कितनी शौरसेनी। किन्तु इतना तय है कि यापनीयों ने अपने ग्रन्थों में आगमों, प्रकीर्णकों एवं निर्युक्तियों की जिन गाथाओं को गृहीत किया है अथवा उद्धृत किया है वे सभी आज शौरसेनी रूपों में ही पायी जाती हैं। यद्यपि आज भी उन पर बहुत कुछ अर्द्धमागधी का प्रभाव शेष रह गया है। चाहे यापनीयों ने सम्पूर्ण आगमों के भाषायी स्वरूप को अर्द्धमागधी से शौरसेनी में रूपान्तरित किया हो या नहीं, किन्तु उन्होंने आगम-साहित्य से जो गाथाएँ उद्धृत की हैं, वे अधिकांशतः आज अपने शौरसेनी स्वरूप में पायी जाती हैं। यापनीय-आगमों के भाषिक स्वरूप में यह परिवर्तन जानबूझकर किया गया या जब मथुरा जैनधर्म का केन्द्र बना तब सहज रूप में यह परिवर्तन आ गया था, यह कहना कठिन है। जैनधर्म सदैव से क्षेत्रीय भाषाओं को अपनाता रहा और यही कारण हो सकता है कि श्रुतपरम्परा से चली आयी इन गाथाओं में या तो सहज ही क्षेत्रीय प्रभाव आया हो या फिर उस क्षेत्र की भाषा को ध्यान में रखकर उसे उस रूप में परिवर्तित किया गया हो।

यह भी सत्य है कि वलभी में जो देवर्धिगणि की अध्यक्षता में वी.नि.सं. ९८० या ९९३ में अन्तिम वाचना हुई, उसमें क्षेत्रगत महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव जैन-आगमों पर विशेषरूप से आया होगा, यही कारण है कि वर्तमान में श्वेताम्बर-मान्य अर्द्धमागधी आगमों की भाषा का जो स्वरूप उपलब्ध है, उस पर महाराष्ट्री का प्रभाव ही अधिक है। अर्द्धमागधी आगमों में भी उन आगमों की भाषा महाराष्ट्री से अधिक प्रभावित हुई है, जो अधिक व्यवहार या प्रचलन में रहे। उदाहरण के रूप में उत्तराध्ययन और दशवैकालिक जैसे प्राचीन स्तर के आगम महाराष्ट्री से अधिक प्रभावित हैं। जबकि ऋषिभाषित जैसा आगम महाराष्ट्री के प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त रहा है। उस पर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव अत्यल्प है। आज अर्द्धमागधी का जो आगम-साहित्य हमें उपलब्ध है, उसमें अर्द्धमागधी का सर्वाधिक प्रतिशत इसी ग्रन्थ में पाया जाता है।

जैन आगमिक एवं आगम रूप में मान्य अर्द्धमागधी तथा शौरसेनी ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपों में दिया जा सकता है। वस्तुतः इन ग्रन्थों में हुए भाषिक परिवर्तनों का कोई एक ही कारण नहीं है, अपितु अनेक कारण हैं, जिन पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

१. भारत में जहाँ वैदिक परम्परा में वेद-वचनों को मंत्र मानकर उनके स्वर-व्यंजन की उच्चारण योजना को अपरिवर्तनीय बनाये रखने पर अधिक बल दिया गया, उनके लिये शब्द और ध्वनि ही महत्त्वपूर्ण रही और अर्थ गौण। आज भी अनेक वेदपाठी ब्राह्मण ऐसे हैं, जो वेद-मंत्रों के उच्चारण, लय आदि के प्रति अत्यन्त सतर्क रहते हैं, किन्तु वे उनके अर्थों को नहीं जानते हैं। यही कारण है कि वेद शब्द रूप में यथावत् बने रहे। इसके विपरीत जैन-परम्परा में यह माना गया कि तीर्थङ्कर अर्थ के उपदेष्टा होते हैं उनके वचनों को शब्द रूप तो गणधर आदि के द्वारा दिया जाता है। जैनाचार्यों के लिये कथन का तात्पर्य ही प्रमुख था, उन्होंने कभी भी शब्दों पर बल नहीं दिया। शब्दों में चाहे परिवर्तन हो जाय, लेकिन अर्थों में परिवर्तन नहीं होना चाहिये, यही जैन-आचार्यों का प्रमुख लक्ष्य रहा। शब्द-रूपों की उनकी इस उपेक्षा के फलस्वरूप आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन होते गये।

२. आगम-साहित्य में जो भाषिक परिवर्तन हुए उसका दूसरा कारण यह था कि जैनभिक्षु-संघ में विभिन्न प्रदेशों के भिक्षुगण सम्मिलित थे। अपनी-अपनी प्रादेशिक बोलियों से प्रभावित होने के कारण उनकी उच्चारण-शैली में भी स्वाभाविक भिन्नता रहती, फलतः आगम-साहित्य के भाषिक स्वरूप में भिन्नता आ गयी।

३. जैनभिक्षु सामान्यतया भ्रमणशील होते हैं, उनकी भ्रमणशीलता के कारण उनकी बोलियों, भाषाओं पर भी अन्य प्रदेशों की बोलियों का प्रभाव पड़ता ही है। फलतः आगमों के भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन या मिश्रण हो गया। उदाहरण के रूप में जब पूर्व का भिक्षु पश्चिमी प्रदेशों में अधिक विहार करता है तो उसकी भाषा में पूर्व एवं पश्चिम दोनों ही बोलियों का प्रभाव आ ही जाता है। अतः भाषिक स्वरूप की एकरूपता समाप्त हो जाती है।

४. सामान्यतया बुद्धवचन बुद्ध-निर्वाण के २००-३०० वर्ष के अन्दर ही अन्दर लिखित रूप में आ गए। अतः उनके भाषिक स्वरूप में उनके रचनाकाल के बाद बहुत अधिक परिवर्तन नहीं आया, तथापि उनकी उच्चारण-शैली विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रही और वह आज भी है। थाई, बर्मा और श्रीलंका के भिक्षुओं का त्रिपिटक का उच्चारण भिन्न-भिन्न होता है, फिर भी उनके लिखित स्वरूप में बहुत कुछ एकरूपता है। इसके विपरीत जैन आगमिक एवं आगमतुल्य साहित्य एक सुदीर्घ काल तक लिखित रूप में नहीं आ सका, वह गुरुशिष्य परम्परा से मौखिक ही चलता रहा, फलतः देशकालगत उच्चारण-भेद से उनके भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारत में कागज का प्रचलन न होने से ग्रन्थ भोजपत्रों या ताड़पत्रों पर लिखे जाते थे। ताड़पत्रों पर ग्रन्थों को लिखवाना और उन्हें सुरक्षित रखना जैन-मुनियों की अहिंसा एवं अपरिग्रह की भावना के प्रतिकूल था। लगभग ई. सन् की ५ वीं शती तक इस कार्य को पाप-प्रवृत्ति माना जाता था तथा इसके लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था भी थी। फलत: महावीर के पश्चात् लगभग १००० वर्ष तक जैन-साहित्य श्रुत-परम्परा पर ही आधारित रहा। श्रुत-परम्परा के आधार पर आगमों के भाषिक स्वरूप को सुरक्षित रखना कठिन था। अत: उच्चारण-शैली का भेद आगमों के भाषिक स्वरूप के परिवर्तन का कारण बन गया।

५. आगमिक एवं आगम-तुल्य साहित्य में आज भाषिक रूपों का जो परिवर्तन देखा जाता है, उसका एक कारण लहियों (प्रतिलिपिकारों) की असावधानी भी रही है। प्रतिलिपिकार जिस क्षेत्र के होते थे, उन पर भी उस क्षेत्र की बोली/भाषा का प्रभाव रहता था और असावधानी से अपनी प्रादेशिक बोली के शब्द रूपों को लिख देता था। उदाहरण के रूप में चाहे मूल पाठ में "गच्छति" लिखा हो लेकिन प्रचलन में "गच्छई" का व्यवहार है, तो प्रतिलिपिकार "गच्छई" रूप ही लिख देगा।

६. जैन-आगम एवं आगम-तुल्य ग्रन्थ में आये भाषिक परिवर्तनों का एक कारण यह भी है कि वे विभिन्न कालों एवं प्रदेशों में सम्पादित होते रहे हैं। सम्पादकों ने उनके प्राचीन स्वरूप को स्थिर रखने का प्रयत्न नहीं किया अपितु उन्हें सम्पादित करते समय अपने युग एवं क्षेत्र के प्रचलित भाषायी स्वरूप के आधार पर उनमें परिवर्तन कर दिया। यही कारण है कि अर्द्धमागधी में लिखित आगम भी जब मथुरा में संकलित एवं सम्पादित हुए तो उनका भाषिक स्वरूप अर्द्धमागधी की अपेक्षा शौरसेनी के निकट हो गया और जब वलभी में लिखे गये तो वह महाराष्ट्री से प्रभावित हो गया। यह अलग बात है कि ऐसा परिवर्तन सम्पूर्ण रूप में न हो सका और उसमें अर्द्धमागधी के तत्त्व भी बने रहे।

सम्पादन और प्रतिलिपि करते समय भाषिक स्वरूप की एकरूपता पर विशेष बल नहीं दिए जाने के कारण जैन-आगम एवं आगमतुल्य साहित्य अर्द्धमागधी, शौरसेनी एवं महाराष्ट्री की खिचड़ी ही बन गया और विद्वानों ने उनकी भाषा को जैन-शौरसेनी और जैन-महाराष्ट्री ऐसे नाम दे दिये। न प्राचीन संकलन कर्त्ताओं ने उस पर ध्यान दिया और न आधुनिक काल के सम्पादनों, प्रकाशनों में इस तथ्य पर ध्यान दिया गया। परिणामत: एक ही आगम के एक ही विभाग में "लोक", "लोग", "लोअ" और "लोय" ऐसे चारों ही रूप देखने को मिल जाते हैं।

यद्यपि सामान्य रूप से तो इन भाषिक रूपों के परिवर्तनों के कारण कोई बहुत बड़ा अर्थ-भेद नहीं होता है, किन्तु कभी-कभी इनके कारण भयंकर अर्थ-भेद भी हो जाता है। इस सन्दर्भ में एक दो उदाहरण देकर अपनी बात को स्पष्ट करना चाहूँगा। उदाहरण के रूप में सूत्रकृतांग का प्राचीन पाठ "रामपुत्ते" बदलकर चूर्णि में "रामाउत्ते" हो गया, किन्तु वही पाठ सूत्रकृतांग की शीलांक की टीका में "रामगुत्ते" हो गया। इस प्रकार जो शब्द रामपुत्र का वाचक था, वह रामगुप्त का वाचक हो गया। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने उसे गुप्तशासक रामगुप्त मान लिया है और उसके द्वारा प्रतिष्ठापित विदिशा की जिन मूर्तियों के अभिलेखों से उसकी पुष्टि भी कर दी। जबकि वस्तुत: वह निर्देश बुद्ध के समकालीन रामपुत्र नामक श्रमण-आचार्य के सम्बन्ध में था, जो ध्यान एवं योग के महान् साधक थे और जिनसे स्वयं भगवान् बुद्ध ने ध्यान प्रक्रिया सीखी थी। उनसे सम्बन्धित एक अध्ययन ऋषिभाषित में आज भी है, जबकि अंतकृद्दशा में उनसे सम्बन्धित जो अध्ययन था, वह आज विलुप्त हो चुका है। इसकी विस्तृत चर्चा Aspects of Jainology, Vol. II में मैंने अपने एक स्वतन्त्र लेख में की है। इसी प्रकार आचारांग एवं सूत्रकृतांग में प्रयुक्त "खेत्तन्न" शब्द, जो "क्षेत्रज्ञ" (आत्मज्ञ) का वाची था, महाराष्ट्री के प्रभाव से आगे चलकर "खेयण्ण" बन गया और उसे "खेदज्ञ" का वाची मान लिया गया। इसकी चर्चा प्रो. के. आर. चन्द्रा ने श्रमण १९९२ में प्रकाशित अपने लेख में की है। अत: स्पष्ट है कि इन परिवर्तनों के कारण अनेक स्थलों पर बहुत अधिक अर्थभेद भी हो गये हैं। आज वैज्ञानिक रूप से सम्पादन की जो शैली विकसित हुई है उसके माध्यम से इन समस्याओं के समाधान की अपेक्षा है। जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया था कि आगमिक एवं आगम-तुल्य ग्रन्थों के प्राचीन स्वरूप को स्थिर करने के लिए श्वेताम्बर परम्परा में प्रो. के.आर. चन्द्रा और दिगम्बर-परम्परा में आचार्य श्री विद्यानन्द जी के सान्निध्य में श्री बलभद्र जैन ने प्रयत्न प्रारम्भ किया है। किन्तु इन प्रयत्नों का कितना औचित्य है और इस सन्दर्भ में किन-किन सावधानियों की आवश्यकता है, यह भी विचारणीय है। यदि प्राचीन रूपों को स्थिर करने का यह प्रयत्न सम्पूर्ण सावधानी और ईमानदारी से न हुआ तो इसके दुष्परिणाम भी हो सकते हैं।

प्रथमत:, प्राकृत के विभिन्न भाषिक रूप लिये हुए इन ग्रन्थों में पारस्परिक प्रभाव और पारस्परिक अवदान को अर्थात् किसने किस परम्परा से क्या लिया है, इसे समझने के लिए आज जो सुविधा है, वह इनमें भाषिक एकरूपता लाने पर समाप्त हो जायेगी। आज नमस्कार मंत्र में "नमो" और "णमो" शब्द का जो विवाद है, उसका समाधान और कौन सा शब्दरूप प्राचीन है इसका निश्चय, हम खारवेल और मथुरा के अभिलेखों के आधार पर कर सकते हैं और यह कह सकते हैं कि अर्द्धमागधी का "नमो" रूप प्राचीन है, जबकि शौरसेनी और महाराष्ट्री का "णमो" रूप परवर्ती है, क्योंकि ई. की दूसरी शती तक अभिलेखों में कहीं भी "णमो" रूप नहीं मिलता। जबकि छठी शती से दक्षिण भारत के जैन-अभिलेखों में "णमो" रूप बहुतायत से मिलता है। इससे फलित यह निकलता है कि णमो रूप परवर्ती है और जिन ग्रन्थों में "न" के स्थान पर "ण" की बहुलता है, वे ग्रन्थ भी परवर्ती हैं। यह सत्य है कि "नमो" से परिवर्तित होकर ही "णमो" रूप बना है। जिन अभिलेखों में "णमो" रूप मिलता है वे सभी ई. सन् की चौथी शती के बाद के ही हैं। इसी प्रकार से नमस्कार-मंत्र की अन्तिम गाथा में— **एसो पंच नमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो। मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं**— ऐसा पाठ है। इनमें प्रयुक्त प्रथमाविभक्ति में "एकार" के स्थान पर "ओकार" का प्रयोग तथा "हवति" के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थान पर ''हवइ'' शब्द रूप का प्रयोग यह बताता है कि इसकी रचना अर्द्धमागधी से महाराष्ट्री के संक्रमणकाल के बीच की है और यह अंश नमस्कार-मंत्र में बाद में जोड़ा गया है। इसमें शौरसेनी रूप ''होदि'' या ''हवदि'' के स्थान पर महाराष्ट्री शब्द रूप ''हवई'' है जो यह बताता है कि यह अंश मूलत: महाराष्ट्री में निर्मित हुआ था और वहीं से शौरसेनी में लिया गया है।

इसी प्रकार शौरसेनी आगमों में भी इसके ''हवइ'' शब्द रूप की उपस्थिति भी यही सूचित करती है कि उन्होंने इस अंश को परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत के ग्रन्थों से ही ग्रहण किया है। अन्यथा वहाँ मूल शौरसेनी का ''हवदि'' या ''होदि'' रूप ही होना था। आज यदि किसी को शौरसेनी का अधिक आग्रह हो, तो क्या वे नमस्कार-मंत्र के इस ''हवइ'' शब्द को ''हवदि'' या ''होदि'' रूप में परिवर्तित कर देंगे? जबकि तीसरी-चौथी शती से आज तक कहीं भी ''हवइ'' के अतिरिक्त अन्य कोई शब्द-रूप उपलब्ध नहीं है।

प्राकृत के भाषिक स्वरूप के सम्बन्ध में दूसरी कठिनाई यह है कि प्राकृत का मूल आधार क्षेत्रीय बोलियाँ होने से उसके एक ही काल में विभिन्न रूप रहे हैं। प्राकृत-व्याकरण में जो ''बहुलं'' शब्द है वह स्वयं इस बात का सूचक है कि चाहे शब्द-रूप हो, चाहे धातु-रूप हो, या उपसर्ग आदि हो, उनकी बहुविधता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक बार हम मान भी लें कि एक क्षेत्रीय बोली में एक ही रूप रहा होगा, किन्तु चाहे वह शौरसेनी, अर्द्धमागधी या महाराष्ट्री प्राकृत हो, साहित्यिक भाषा के रूप में इनके विकास के मूल में विविध बोलियाँ रही हैं। अत: भाषिक एकरूपता का प्रयत्न प्राकृत की अपनी मूल प्रकृति की दृष्टि से कितना समीचीन होगा, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

पुन: चाहे हम एक बार यह मान भी लें कि प्राचीन अर्द्धमागधी का जो भी साहित्यिक रूप रहा वह बहुविध नहीं था और उसमें व्यंजनों के लोप, उनके स्थान पर ''अ'' या ''य'' की उपस्थिति अथवा ''न'' के स्थान पर ''ण'' की प्रवृत्ति नहीं रही होगी और इस आधार पर आचारांग आदि की भाषा का अर्द्धमागधी स्वरूप स्थिर करने का प्रयत्न उचित भी मान लिया जाये, किन्तु यह भी सत्य है कि जैन-परम्परा में शौरसेनी का आगम-तुल्य साहित्य मूलत: अर्द्धमागधी आगम-साहित्य के आधार पर और उससे ही विकसित हुआ, अत: उसमें जो अर्द्धमागधी या महाराष्ट्री का प्रभाव देखा जाता है, उसे पूर्णत: निकाल देना क्या उचित होगा? यदि हमने यह दु:साहस किया भी तो उससे ग्रन्थों के काल-निर्धारण आदि में और उनकी पारस्परिक प्रभावकता को समझने में, आज जो सुगमता है, वह नष्ट हो जायेगी।

यही स्थिति महाराष्ट्री प्राकृत की भी है। उसका आधार भी अर्द्धमागधी और अंशत: शौरसेनी आगम रहे हैं। यदि उनके प्रभाव को निकालने का प्रयत्न किया गया तो वह भी उचित नहीं होगा। 'खेयण्ण' का प्राचीन रूप 'खेत्तन्न' है। महाराष्ट्री प्राकृत के ग्रन्थ में एक बार 'खेत्तन्न' रूप प्राप्त होता है तो उसे हम प्राचीन शब्द रूप मानकर रख सकते हैं, किन्तु अर्द्धमागधी के ग्रन्थ में ''खेतन्न'' रूप उपलब्ध होते हुए भी महाराष्ट्री रूप ''खेयन्न'' बनाये रखना उचित नहीं होगा। जहाँ तक अर्द्धमागधी आगम-ग्रन्थों का प्रश्न है उन पर परवर्तीकाल में जो शौरसेनी या महाराष्ट्री प्राकृतों का प्रभाव आ गया है, उसे दूर करने का प्रयत्न किसी सीमा तक उचित माना जा सकता है, किन्तु इस प्रयत्न में भी निम्न सावधानियाँ अपेक्षित हैं—

१. प्रथम तो यह कि यदि मूल हस्तप्रतियों में कहीं भी वह शब्द रूप नहीं मिलता है, तो उस शब्द रूप को किसी भी स्थिति में परिवर्तित न किया जाये। किन्तु प्राचीन अर्द्धमागधी शब्द-रूप जो किसी भी मूल हस्तप्रति में एक-दो स्थानों पर भी उपलब्ध होता है, उसे अन्यत्र परिवर्तित किया जा सकता है। यदि किसी अर्द्धमागधी के प्राचीन ग्रन्थ में ''लोग'' एवं ''लोय'' दोनों रूप मिलते हों तो वहाँ अर्वाचीन रूप ''लोय'' को प्राचीन रूप ''लोग'' में रूपान्तरित किया जा सकता है किन्तु इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि यदि एक पूरा का पूरा गद्यांश या पद्यांश महाराष्ट्री में है और उसमें प्रयुक्त शब्दों के वैकल्पिक अर्द्धमागधी रूप किसी एक भी आदर्श प्रति में नहीं मिलते हैं तो उन अंशों को परिवर्तित न किया जाये, क्योंकि सम्भावना यह हो सकती है कि वह अंश परवर्ती काल में प्रक्षिप्त हुआ हो। अत: उस अंश के प्रक्षिप्त होने का आधार जो उसका भाषिक स्वरूप है, उसको बदलने से आगमिक शोध में बाधा उत्पन्न होगी। उदाहरण के रूप में आचारांग के प्रारम्भ में **''सुयं मे आउसंतेण भगवया एवं अक्खायं''** के अंश को ही लें, जो सामान्यतया सभी प्रतियों में इसी रूप में मिलता है। यदि हम इसे अर्द्धमागधी में रूपान्तरित करके **''सुतं मे आउसन्तेणं भगवता एवं अक्खाता''** कर देंगे तो इसके प्रक्षिप्त होने की जो सम्भावना है वह समाप्त हो जायेगी। अत: प्राचीनस्तर के आगमों में किस अंश के भाषिक स्वरूप को बदला जा सकता है और किसको नहीं, इस पर गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है।

इसी सन्दर्भ में ऋषिभाषित के एक अन्य उदाहरण पर भी विचार कर सकते हैं। इसमें प्रत्येक ऋषि के कथन को प्रस्तुत करते हुए सामान्यतया यह गद्यांश मिलता है— 'अरहता इसिणा बुइन्तं', किन्तु हम देखते हैं कि इसके ४५ अध्यायों में से ३७ में ''बुइन्तं'' पाठ है, जबकि ७ में ''बुइयं'' पाठ है। ऐसी स्थिति में यदि इस ''बुइयं'' पाठ वाले अंश के आस-पास अन्य शब्दों के प्राचीन अर्द्धमागधी रूप मिलते हों तो ''बुइयं'' को बुइन्तं में बदला जा सकता है। किन्तु यदि किसी शब्द रूप के आगे-पीछे के शब्द-रूप भी महाराष्ट्री प्रभाव वाले हों, तो फिर उसे बदलने के लिए हमें एक बार सोचना होगा।

कुछ स्थितियों में यह भी होता है कि ग्रन्थ की एक ही आदर्श प्रति उपलब्ध हो, ऐसी स्थिति में जब तक उनकी प्रतियाँ उपलब्ध न हों, तब तक उनके साथ छेड़-छाड़ करना उचित नहीं होगा। अत: अर्द्धमागधी या शौरसेनी के भाषिक रूपों को परिवर्तित करने के किसी निर्णय से पूर्व सावधानी और बौद्धिक ईमानदारी की आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में अन्तिम रूप से एक बात और निवेदन करना आवश्यक है, वह यह कि यदि मूलपाठ में किसी प्रकार का परिवर्तन किया भी जाता है, तो भी इतना तो अवश्य ही करणीय होगा कि पाठान्तरों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के रूप में अन्य उपलब्ध शब्द रूपों को भी अनिवार्य रूप से रखा जाय, साथ ही भाषिक रूपों को परिवर्तित करने के लिए जो प्रति आधार रूप में मान्य की गयी हो उसकी मूल प्रतिछाया को भी प्रकाशित किया जाय, क्योंकि छेड़-छाड़ के इस क्रम में जो साम्प्रदायिक आग्रह कार्य करेंगे, उससे ग्रन्थ की मौलिकता को पर्याप्त धक्का लग सकता है।

आचार्य शान्तिसागर जी और उनके समर्थक कुछ दिगम्बर-विद्वानों द्वारा षट्खण्डागम (१/१/९३) में से "संजद" पाठ को हटाने की एवं श्वेताम्बर-परम्परा में मुनि श्री फूलचन्द जी द्वारा परम्परा के विपरीत लगने वाले कुछ आगम के अंशों को हटाने की कहानी अभी हमारे सामने ताजा ही है। यह तो भाग्य ही था कि इस प्रकार के प्रयत्नों को दोनों ही समाज के प्रबुद्ध वर्ग ने स्वीकार नहीं किया और इस प्रकार से सैद्धान्तिक संगति के नाम पर जो कुछ अनर्थ हो सकता था, उससे हम बच गये। किन्तु आज भी "षट्खण्डागम" के ताम्र-पत्रों एवं प्रथम संस्करण की मुद्रित प्रतियों में 'संजद' शब्द अनुपस्थित है। इसी प्रकार फूलचन्द जी द्वारा सम्पादित अंग-सुत्ताणि में कुछ आगम-पाठों का जो विलोपन हुआ है वे प्रतियाँ तो भविष्य में भी रहेंगी, अत: भविष्य में तो यह सब निश्चय ही विवाद का कारण बनेगा। इसलिये ऐसे किसी भी प्रयत्न से पूर्व पूरी सावधानी एवं सजगता आवश्यक है। मात्र "संजद" पद हट जाने से उस ग्रन्थ के यापनीय होने की जो पहचान है, वही समाप्त हो जाती और जैन-परम्परा के इतिहास के साथ अनर्थ हो जाता।

उपर्युक्त समस्त चर्चा का मेरा प्रयोजन यह नहीं है कि अर्द्धमागधी आगम एवं आगम-तुल्य शौरसेनी ग्रन्थों के भाषायी स्वरूप की एकरूपता एवं उनके प्राचीन स्वरूप को स्थिर करने का कोई प्रयत्न ही न हो। मेरा दृष्टिकोण मात्र यह है कि उसमें विशेष सतर्कता की आवश्यकता है। साथ ही इस प्रयत्न का परिणाम यह न हो कि जो परवर्ती ग्रन्थ प्राचीन अर्द्धमागधी आगम-साहित्य के आधार पर निर्मित हुए हैं, उनकी उस रूप में पहचान ही समाप्त कर दी जाये और इस प्रकार आज ग्रन्थों के पौर्वापर्य के निर्धारण का जो भाषायी आधार है वह भी नष्ट हो जाये। यदि प्रश्नव्याकरण, नन्दीसूत्र आदि परवर्ती आगमों की भाषा को प्राचीन अर्द्धमागधी में बदला गया अथवा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का या मूलाचार और भगवती-आराधना का पूर्ण शौरसेनीकरण किया गया तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि इससे उनकी पहचान और इतिहास ही नष्ट हो जायेगा।

जो लोग इस परिवर्तन के पूर्णत: विरोधी हैं उनसे भी मैं सहमत नहीं हूँ। मैं यह मानता हूँ आचारांग, ऋषिभाषित एवं सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन आगमों का इस दृष्टि से पुन: सम्पादन होना चाहिए। इस प्रकिया के विरोध में जो स्वर उभर कर सामने आये हैं उनमें जौहरीमल जी पारख का स्वर प्रमुख है। वे विद्वान् अध्येता ओर श्रद्धाशील दोनों ही हैं। फिर भी तुलसी-प्रज्ञा में उनका जो लेख प्रकाशित हुआ है उसमें उनका वैदुष्य श्रद्धा के अतिरेक में दब सा गया है। उनका सर्वप्रथम तर्क यह है कि आगम सर्वज्ञ के वचन हैं, अत: उन पर व्याकरण के नियम थोपे नहीं जा सकते कि वे व्याकरण के नियमों के अनुसार ही बोलें। यह कोई तर्क नहीं, मात्र उनकी श्रद्धा का अतिरेक ही है। प्रथम प्रश्न तो यही है कि क्या अर्द्धमागधी आगम अपने वर्तमान स्वरूप में सर्वज्ञ की वाणी है? क्या उनमें किसी प्रकार का विलोपन, प्रक्षेप या परिवर्तन नहीं हुआ है? यदि ऐसा है तो उनमें अनेक स्थलों पर अन्तर्विरोध क्यों है? कहीं लोकान्तिक देवों की संख्या आठ है तो कहीं नौ क्यों है? कहीं चार स्थावर और दो त्रस हैं, कहीं तीन त्रस और तीन स्थावर कहे गये, तो कहीं पाँच स्थावर और एक त्रस। यदि आगम शब्दश: महावीर की वाणी है, तो आगमों और विशेष रूप से अंग-आगमों में महावीर के तीन सौ वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुए गणों के उल्लेख क्यों हैं? यदि कहा जाय कि भगवान सर्वज्ञ थे और उन्होंने भविष्य की घटनाओं को जानकर यह उल्लेख किया तो प्रश्न यह कि वह कथन व्याकरण की दृष्टि से भविष्यकालिक भाषा रूप में होना था वह भूतकाल में क्यों कहा गया। क्या भगवती में गोशालक के प्रति जिस अशिष्ट शब्दावली का प्रयोग हुआ है क्या वह अंश वीतराग भगवान महावीर की वाणी हो सकती है? क्या आज प्रश्नव्याकरणदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा और विपाकदशा की विषयवस्तु वही है, जो स्थानांग में उल्लिखित है? तथ्य यह है कि यह सब परिवर्तन हुआ है, आज हम उससे इंकार नहीं कर सकते हैं।

आज ऐसे अनेक तथ्य हैं, जो वर्तमान आगमसाहित्य को अक्षरश: सर्वज्ञ के वचन मानने में बाधक हैं। परम्परा के अनुसार भी सर्वज्ञ तो अर्थ (विषयवस्तु) के प्रवक्ता हैं— शब्द रूप तो उनको गणधरों या परवर्ती स्थविरों द्वारा दिया गया है। क्या आज हमारे पास जो आगम हैं, वे ठीक वैसे ही हैं जैसे शब्द-रूप से गणधर गौतम ने उन्हें रचा था? आगम-ग्रन्थों में परवर्तीकाल में जो विलोपन, परिवर्तन, परिवर्धन आदि हुआ और जिनका साक्ष्य स्वयं आगम ही दे रहे हैं, उससे क्या हम इन्कार कर सकते हैं? स्वयं देवर्धि ने इस तथ्य को स्वीकार किया है तो फिर हम नकारने वाले कौन होते हैं। आदरणीय पारखजी लिखते है— "पण्डितों से हमारा यही आग्रह रहेगा कि कृपया बिना भेल-सेल के वही पाठ प्रदान करें जो तीर्थकरों ने अर्थरूप में प्ररुपित और गधणरों ने सूत्ररूप में संकलित किया था। हमारे लिये वही शुद्ध है। सर्वज्ञों को जिस अक्षर, शब्द, पद, वाक्य या भाषा का प्रयोग अभीष्ट था, वह सूचित कर गये, अब उसमें असर्वज्ञ फेर बदल नहीं कर सकता।" उनके इस कथन के प्रति मेरा प्रथम प्रश्न तो यही है कि आज तक आगमों में जो परिवर्तन होता रहा वह किसने किया? आज हमारे पास जो आगम हैं उनमें एकरूपता क्यों नहीं है? आज मुर्शिदाबाद, हैदराबाद, बम्बई, लाडनूं आदि के संस्करणों में इतना अधिक पाठ-भेद क्यों है? इनमें से हम किस संस्करण को सर्वज्ञ-वचन मानें और आपके शब्दों में किसे भेल-सेल कहें? मेरा दूसरा प्रश्न यह है कि क्या आज पण्डित आगमों में कोई भेल-सेल कर रहे हैं या फिर वे उसके शुद्ध स्वरूप को सामने लाना चाहते हैं? किसी भी पाश्चात्य संशोधक दृष्टि सम्पन्न विद्वान् ने आगमों में कोई भेल-सेल किया? इसका एक भी उदाहरण हो तो हमें बतायें। दुर्भाग्य यह है कि शुद्धि के प्रयत्न को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेल-सेल का नाम दिया जा रहा है और व्यर्थ में उसकी आलोचना की जा रही है। पुनः जहाँ तक मेरी जानकारी है डॉ. चन्द्रा ने एक भी ऐसा पाठ नहीं सुझाया है, जो आदर्श-सम्मत नहीं है। उन्होंने मात्र यही प्रयत्न किया है कि जो भी प्राचीन शब्द रूप किसी भी एक आदर्शप्रत में एक-दो स्थानों पर भी मिल गये, उन्हें आधार मानकर अन्य स्थलों पर भी वही प्राचीन रूप रखने का प्रयास किया है। यदि उन्हें भेल-सेल करना होता तो वे इतने साहस के सभी पूज्य मुनिजनों एवं विद्वानों के विचार जानने के लिये उसे प्रसारित नहीं करते। फिर जब पारख जी स्वयं यह कहते हैं कि कुल ११६ पाठभेदों में केवल १ "आउसंतेण" को छोड़कर शेष ११५ पाठभेद ऐसे हैं कि जिससे अर्थ में कोई फर्क नहीं पड़ता— तो फिर उन्होंने ऐसा कौन सा अपराध कर दिया जिससे उनके श्रम की मूल्यवत्ता को स्वीकार करने के स्थान पर उसे नकारा जा रहा है? आज यदि आचारांग के लगभग ४० से अधिक संस्करण हैं— और यह भी सत्य है कि सभी ने आदर्शों के आधार पर ही पाठ छापे हैं तो फिर किसे शुद्ध और किसे अशुद्ध कहें? क्या सभी को समान रूप से शुद्ध मान लिया जायेगा। क्या हम ब्यावर, जैन विश्वभारती, लाडनूँ और महावीर विद्यालय वाले संस्करणों को समान महत्त्व का समझें? भय भेल-सेल का नहीं है, भय यह है कि अधिक प्रामाणिक एवं शुद्ध संस्करण के निकल जाने से पूर्व संस्करणों की सम्पादन में रही कमियाँ उजागर हो जाने का और यही खीज का मूल कारण प्रतीत होता है। पुनः क्या श्रद्धेय पारखजी यह बता सकते हैं कि क्या कोई भी ऐसी आदर्श प्रति है, जो पूर्णतः शुद्ध है— जब आदर्शों में भिन्नता और अशुद्धियाँ हैं, तो उन्हें दूर करने के लिये विद्वान् व्याकरण के अतिरिक्त किसका सहारा लेंगे? क्या आज तक कोई भी आगम-ग्रन्थ बिना व्याकरण का सहारा लिये मात्र आदर्श के आधार पर छपा है। प्रत्येक सम्पादक व्याकरण का सहारा लेकर ही आदर्श की अशुद्धि को ठीक करता है। यदि वे स्वयं यह मानते हैं कि आदर्शों में अशुद्धियाँ स्वाभाविक हैं, तो फिर उन्हें शुद्ध किस आधार पर किया जायेगा? मैं भी यह मानता हूँ कि सम्पादन में आदर्श प्रति का आधार आवश्यक है। किन्तु न तो मात्र आदर्श से और न मात्र व्याकरण के नियमों से समाधान होता है, उसमें दोनों का सहयोग आवश्यक है। मात्र यही नहीं अनेक प्रतों को सामने रखकर तुलना करके एवं विवेक से भी पाठ शुद्ध करना होता है। जैसा कि आचार्य श्री तुलसी जी ने मुनि श्री जम्बूविजय जी को अपनी सम्पादन-शैली का स्पष्टीकरण करते हुए बताया था।

आदरणीय पारखजी एवं उनके द्वारा उद्धृत मुनि श्री जम्बूविजयजी का यह कथन कि आगमों में अनुनासिक परसवर्ण वाले पाठ प्रायः नहीं मिलते हैं, स्वयं ही यह बताता है कि क्वचित् तो मिलते हैं। पुनः इस सम्बन्ध में डॉ. चन्द्रा ने आगमोदय समिति के संस्करण, टीका तथा चूर्णि के संस्करणों से प्रमाण भी दिये हैं। वस्तुतः लेखन की सुविधा के कारण ही अनुनासिक परसवर्ण वाले पाठ आदर्शों में कम होते गये हैं। किन्तु लोकभाषा में वे आज भी जीवित हैं। अतः चन्द्रा जी के कार्य को प्रमाणरहित या आदर्शरहित कहना उचित नहीं है।

वर्तमान में उपलब्ध आगमों के संस्करणों में लाडनूं और महावीर विद्यालय के संस्करण अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं, किन्तु उनमें भी "त" श्रुति और "य" श्रुति को लेकर या मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप सम्बन्धी जो वैविध्य है, वह न केवल आश्चर्यजनक है, अपितु विद्वानों के लिए चिन्तनीय भी है।

यहाँ महावीर विद्यालय से प्रकाशित स्थानांगसूत्र के ही एक-दो उदाहरण आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ —

चत्तारि वत्था पन्नत्ता, तंजहा- सुती नामं एगे सुती, सुई नामं एगे असुई, चउभंगो।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पन्नत्ता, तंजहा सुती णामं एगे सुती, चउभंगो।

— (चतुर्थ) स्थान, प्रथम उद्देशक, सूत्रक्रमांक २४१, पृ० ९४)

इस प्रकार यहाँ आप देखेंगे कि एक ही सूत्र में "सुती" और "सुई" दोनों रूप उपस्थित हैं। इससे मात्र शब्द-रूप में ही भेद नहीं होता है, अर्थ-भेद भी हो सकता है, क्योंकि "सुती" का अर्थ है सूत से निर्मित, जबकि "सुई" (शुचि) का अर्थ है पवित्र। इस प्रकार इसी सूत्र में "णाम" और "नाम" दोनों शब्द रूप एक ही साथ उपस्थित हैं। इसी स्थानांगसूत्र से एक अन्य उदाहरण लीजिए— सूत्र-क्रमांक ४४५, पृ० १९७ पर "निर्ग्रन्थ" शब्द के लिए प्राकृत शब्दरूप "नियंठ" प्रयुक्त है तो सूत्र ४४६ में "निग्गंथ" और पाठान्तर में "नितंठ" रूप भी दिया गया है। इसी ग्रन्थ में सूत्र-संख्या ४५८, पृ. १९७ पर धम्मत्थिकातं, अधम्मत्थिकातं और आगासत्थिकायं— इस प्रकार "काय" शब्द के दो भिन्न शब्द-रूप 'काय' और 'कातं' दिये गये हैं। यद्यपि "त" श्रुति प्राचीन अर्द्धमागधी की पहचान है, किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में सुती, निठंत और कातं में जो "त" का प्रयोग है वह मुझे परवर्ती लगता है। लगता है कि "य" श्रुति को "त" श्रुति में बदलने के प्रयत्न भी कालान्तर में हुए और इस प्रयत्न में बिना अर्थ का विचार किये "य" को "त" कर दिया गया है। शुचि का सुती, निर्ग्रन्थ का नितंठ और काय का कातं किस प्राकृत व्याकरण के नियम से बनेगा, मेरी जानकारी में तो नहीं है। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक एक उदाहरण हमें हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित निर्युक्तिसंग्रह में ओघनिर्युक्ति के प्रारम्भिक मंगल में मिलता है—

नमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं,

एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो। मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।।१।।

यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ नमो अरिहंताणं में प्रारम्भ में "न' रखा गया जबकि णमो सिद्धाणं से लेकर शेष चार पदों में आदि का "न" "ण" कर दिया गया है। किन्तु "एसो पंचनमुक्कारो" में पुनः "न" उपस्थित है। हम आदणीय पारखजी से इस बात में सहमत हो सकते हैं कि भिन्न कालों में भिन्न व्यक्तियों से चर्चा करते हुए प्राकृत भाषा के भिन्न शब्द-रूपों का प्रयोग हो सकता है। किन्तु ग्रन्थ-निर्माण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के समय और वह भी एक ही सूत्र या वाक्यांश में दो भिन्न रूपों का प्रयोग तो कभी भी नहीं होगा, पुन: यदि हम यह मानते हैं कि आगम सर्वज्ञ-वचन हैं, तो जब सामान्य व्यक्ति भी ऐसा नहीं करता है, तो फिर सर्वज्ञ कैसे करेगा? इस प्रकार की भिन्नता के लिए लेखक नहीं, अपितु प्रतिलिपिकार ही उत्तरदायी होता है। अत: ऐसे पाठों का शुद्धीकरण अनुचित नहीं कहा जा सकता। एक ही सूत्र में "सुती" और "सुई" "नाम" और "णाम", "नियंठ" और "निग्गंथ", "कातं" और "कायं" ऐसे दो शब्द-रूप नहीं हो सकते। उनका पाठ-संशोधन आवश्यक है। यद्यपि इसमें भी यह सावधानी आवश्यक है कि "त" श्रुति की प्राचीनता के व्यामोह में कहीं सर्वत्र "य" का "त" नहीं कर दिया जावे, जैसे शुचि-सुइ का "सुती", निग्गंथ का "नितंठ" अथवा कायं का "कातं" पाठ महावीर विद्यालय वाले संस्करण में है। हम पारखजी से इस बात में सहमत हैं कि कोई भी पाठ आदर्श में उपलब्ध हुए बिना नहीं बदला जाय, किन्तु "आदर्श" में उपलब्ध होने का यह अर्थ नहीं है कि "सर्वत्र" और सभी "आदर्शों" में उपलब्ध हो। हाँ यदि आदर्शों या आदर्श के अंश में प्राचीन पाठ मात्र एक-दो स्थलों पर ही मिलें और उनका प्रतिशत २० से भी कम हो तो वहाँ उन्हें प्राय: न बदला जाय। किन्तु यदि उनका प्रतिशत २० से अधिक हो तो उन्हें बदला जा सकता है— शर्त यही हो कि आगम का वह अंश परवर्ती या प्रक्षिप्त न हो- जैसे आचारांग का दूसरा श्रुतस्कन्ध या प्रश्नव्याकरण। किन्तु एक ही सूत्र में यदि इस प्रकार के भिन्न रूप आते हैं तो एक स्थल पर भी प्राचीन रूप मिलने पर अन्यत्र उन्हें परिवर्तित किया जा सकता है।

पाठ शुद्धीकरण में दूसरी सावधानी यह आवश्यक है कि आगमों में कहीं-कहीं प्रक्षिप्त अंश हैं अथवा संग्रहिणियों और निर्युक्तियों की अनेकों गाथाएँ भी अवतरित की गयीं, ऐसे स्थलों पर पाठ-शुद्धिकरण करते समय प्राचीन रूपों की उपेक्षा करनी होगी और आदर्श में उपलब्ध पाठ को परवर्ती होते हुए भी यथावत् रखना होगा।इस तथ्य को हम इस प्रकार भी समझा सकते हैं कि यदि एक अध्ययन, उद्देशक या एक पैराग्राफ में यदि ७० या ८० प्रतिशत प्रयोग महाराष्ट्री या "य" श्रुति के हैं और मात्र १० प्रतिशत प्रयोग प्राचीन अर्द्धमागधी के हैं तो वहाँ पाठ के महाराष्ट्री रूप को रखना ही उचित होगा। सम्भव है कि वह प्रक्षिप्त रूप हो, किन्तु इसके विपरीत उनमें ६० प्रतिशत प्राचीन रूप हैं और ४० प्रतिशत अर्वाचीन महाराष्ट्री के रूप हैं, तो वहाँ प्राचीन रूप रखे जा सकते हैं।

पुन: आगम-संपादन और पाठ-शुद्धीकरण के इस उपक्रम में दिये जाने वाले मूलपाठ को शुद्ध एवं प्राचीन रूप में दिया जाय, किन्तु पाद-टिप्पणियों में सम्पूर्ण पाठान्तरों का संग्रह किया जाय। इसका लाभ यह होगा कि कालान्तर में यदि कोई संशोधन कार्य करें तो उसमें सुविधा हो।

प्रो. के.आर चन्द्रा अपनी अनेक सीमाओं के बावजूद भी आगमों के पाठ-संशोधन का जो यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और श्रमसाध्य कार्य कर रहे हैं, उसकी मात्र आलोचना करना कथमपि उचित नहीं है, क्योंकि वे जो कार्य कर रहे हैं वह न केवल करणीय है बल्कि एक सही दिशा देने वाला कार्य है। हम उन्हें सुझाव तो दे सकते हैं लेकिन अनधिकृत रूप से येन-केन प्रकारेण सर्वज्ञ और शास्त्र-श्रद्धा की दुहाई देकर उनकी आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं रखते। क्योंकि वे जो भी कार्य कर रहे हैं वह बौद्धिक ईमानदारी के साथ, निर्लिप्त भाव से तथा सम्प्रदायगत आग्रहों से ऊपर उठकर कर रहे हैं, उनकी नियत में भी कोई शंका नहीं की जा सकती। अत: मैं जैन-विद्या के विद्वानों से नम्र निवेदन करूँगा कि वे शान्तचित्त से उनके प्रयत्नों की मूल्यवत्ता को समझें और अपने सुझावों एवं सहयोग से उन्हें इस दिशा में प्रोत्साहित करें। दूसरी ओर मैं प्रो. चन्द्रा से भी निवेदन करूँगा कि वे बिना प्रमाण के ऐसा कोई परिशोधन न करें।

आगमों के विच्छेद की अवधारणा

आगम के विच्छेद की यह अवधारणा जैनधर्म के श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में उल्लिखित है। दिगम्बर-परम्परा में आगमों के विच्छेद की यह अवधारणा तिलोयपण्णत्ति, षट्खण्डागम की धवलाटीका, हरिवंशपुराण, आदिपुराण आदि में मिलती है। इन सब ग्रन्थों में तिलोयपण्णत्ति अपेक्षाकृत प्राचीन है। तिलोयपण्णत्ति का रचनाकाल विद्वानों ने ईसा की छठी-सातवीं शती के लगभग माना है। इसके पश्चात् षट्खण्डागम की धवला टीका, हरिवंशपुराण, आदिपुराण आदि ग्रन्थ आते हैं जो लगभग ई. की नवीं शती की रचनाएँ हैं। हरिवंश पुराण में आगम-विच्छेद की चर्चा को कुछ विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है, क्योंकि वह यापनीय-परम्परा का ग्रन्थ है और यापनीयों में नवीं-दसवीं शताब्दी तक आगमों के अध्ययन और उन पर टीका लिखने की परम्परा जीवित रही है। सम्भव यह भी है कि जिस प्रकार श्वेताम्बरों में आगमों के विच्छेद की चर्चा होते हुए भी आगमों की परम्परा जीवित रही उसी प्रकार यापनीयों में भी श्रुत-विच्छेद की परम्परा का उल्लेख होते हुए भी श्रुत के अध्ययन एवं उन पर टीका आदि के लेखन की परम्परा जीवित रही है। पुन: हरिवंशपुराण में भी मात्र पूर्व एवं अंग ग्रन्थ के विच्छेद की चर्चा है, शेष ग्रन्थ तो थे ही।

इन ग्रन्थों के अनुसार भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् गौतम, सुधर्मा (लोहार्य) और जम्बू ये तीन आचार्य केवली हुए, इन तीनों का सम्मिलित काल ६२ वर्ष माना गया है। तत्पश्चात् विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच आचार्य चतुर्दश पूर्वों के धारक श्रुतकेवली हुए। इन पाँच आचार्यों का सम्मिलित काल १०० वर्ष है। इस प्रकार भद्रबाहु के काल तक अंग और पूर्व की परम्परा अविच्छिन्न बनी रही। उसके बाद प्रथम पूर्व साहित्य का विच्छेद प्रारम्भ हुआ। भद्रबाहु के पश्चात् विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय बुद्धिल, धर्मसेन और गंगदेव— ये ग्यारह आचार्य दस पूर्वों के धारक हुए। इनका सम्मिलित काल १८३ वर्ष माना गया है। इस प्रकार वीरनिर्वाण के पश्चात् ३४५ वर्ष तक पूर्वधरों का अस्तित्व रहा। इसके बाद पूर्वधरों के विच्छेद के साथ ही पूर्व ज्ञान का विच्छेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो गया। इनके पश्चात् नक्षत्र, यशपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस— ये पाँच आचार्य एकादश अंगों के ज्ञाता हुए। इनका सम्मिलित काल २२० वर्ष माना गया। इस प्रकार भगवान् महावीर-निर्वाण के ५६५ वर्ष पश्चात् आचारांग को छोड़कर शेष अंगों का भी विच्छेद हो गया। इनके बाद सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य— ये चार आचार्य आचारांग के धारक हुए। इनका काल ११८ वर्ष रहा।इस प्रकार वीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् अंग एवं पूर्व साहित्य के ग्रन्थों के पूर्णज्ञाता आचार्यों की परम्परा समाप्त हो गई। इनके बाद आचार्य धरसेन तक अंग और पूर्व के एकदेश ज्ञाता (आंशिकज्ञाता) आचार्यों की परम्परा चली। उसके बाद पूर्व और अंग-साहित्य का विच्छेद हो गया। मात्र अंग और पूर्व के आधार पर उनके एकदेश ज्ञाता आचार्यों द्वारा निर्मित ग्रन्थ ही शेष रहे। अंग और पूर्वधरों की यह सूची हमने हरिवंशपुराण के आधार पर दी है। अन्य ग्रन्थों एवं श्रवणबेलगोला के कुछ अभिलेखों में भी यह सूची दी गयी है, किन्तु इन सभी सूचियों में कहीं नामों में और कहीं क्रम में अन्तर है, जिससे इनकी प्रामाणिकता संदेहास्पद बन जाती है। किन्तु जो कुछ साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध हैं उन्हें ही आधार बनाना होगा, अन्य कोई विकल्प भी नहीं है। यद्यपि इन साक्ष्यों में भी एक भी साक्ष्य ऐसा नहीं है, जो सातवीं शती से पूर्व का हो। इन समस्त विवरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि दिगम्बर-परम्परा में श्रुत विच्छेद की इस चर्चा का प्रारम्भ लगभग छठी-सातवीं शताब्दी में हुआ और उसमें अंग एवं पूर्व साहित्य के ग्रन्थों के ज्ञाता आचार्यों के विच्छेद की चर्चा हुई है।

श्वेताम्बर-परम्परा में पूर्व-ज्ञान के विच्छेद की चर्चा तो निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि आगामिक व्याख्या-ग्रन्थों में हुई है। किन्तु अंग-आगमों के विच्छेद की चर्चा मात्र तित्थोगालिय प्रकीर्णक के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलती है। तित्थोगालिय प्रकीर्णक को देखने से लगता है कि यह ग्रन्थ लगभग छठी-सातवीं शताब्दी में निर्मित हुआ है। इसका रचना-काल और कुछ विषय-वस्तु भी तिलोयपण्णत्ति से समरूप ही है। इस प्रकीर्णक का उल्लेख नन्दीसूत्र की कालिक और उत्कालिक ग्रन्थों की सूची में नहीं है, किन्तु व्यवहारभाष्य (१०/७०४) में इसका उल्लेख हुआ है। व्यवहारभाष्य स्पष्टतः सातवीं शताब्दी की रचना है। अन्ततः तित्थोगालिय पाँचवीं शती के पश्चात् तथा सातवीं शती के पूर्व अर्थात् लगभग ईस्वी सन् की छठी शताब्दी में निर्मित हुआ होगा। यही काल तिलोयपण्णत्ति का भी है। इन दोनों ग्रन्थों में ही सर्वप्रथम श्रुत के विच्छेद की चर्चा है। तित्थोगालिय में तीर्थङ्करों की माताओं के चौदह स्वप्न, स्त्री-मुक्ति तथा दस आश्चर्यों का उल्लेख होने से एवं नन्दीसूत्र, अनुयोगद्वार तथा आवश्यकनिर्युक्ति से इसमें अनेक गाथाएँ अवतरित किये जाने से यही सिद्ध होता है कि यह श्वेताम्बर ग्रन्थ है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रकीर्णक रूप में इसकी आज भी मान्यता है। इस ग्रन्थ की गाथा ८०७ से ८५७ तक में न केवल पूर्वों के विच्छेद की चर्चा है, अपितु अंग-साहित्य के विच्छेद की भी चर्चा है।

तित्थोगालिय एवं अन्य ग्रन्थों के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर आर्य भद्रबाहु हुए। आर्य भद्रबाहु के स्वर्गवास के साथ ही चतुर्दश पूर्वधरों की परम्परा समाप्त हो गयी। इनका स्वर्गवास-काल वीरनिर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् माना जाता है। इसके पश्चात् स्थूलिभद्र दस पूर्वों के अर्थ सहित और शेष चार पूर्वों के मूल मात्र के ज्ञाता हुए। यथार्थ में तो वे दस पूर्वों के ही ज्ञाता थे। तित्थोगालिय में स्थूलिभद्र को दस पूर्वधरों में प्रथम कहा गया है। उसमें अन्तिम दसपूर्वी सत्यमित्र (पाठभेद से सर्वमित्र) को बताया गया है, किन्तु उनके काल का निर्देश नहीं किया गया है। उसके बाद उस ग्रन्थ में यह उल्लिखित है कि अनुक्रम से भगवान् महावीर के निर्वाण के १००० वर्ष पश्चात् वाचक वृषभ के समय में पूर्वगत श्रुत का विच्छेद हो जायगा। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार दस पूर्वधरों के पश्चात् भी पूर्वधरों की परम्परा चलती रही है, श्वेताम्बरों में अभिन्न-अक्षर दसपूर्वधर और भिन्न-अक्षर दसपूर्वधर, ऐसे दो प्रकार के वर्गों का उल्लेख है। जो सम्पूर्ण दस पूर्वों के ज्ञाता होते थे, वे अभिन्न अक्षर दसंपूर्वधर कहे जाते थे और जो आंशिक रूप से दस पूर्वों के ज्ञाता होते थे, उन्हें भिन्न-अक्षर दसपूर्वधर कहा जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चतुर्दश पूर्वधरों के विच्छेद की इस चर्चा में दोनों परम्परा में अन्तिम चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु को ही माना गया है। श्वेताबर-परम्परा के अनुसार वीरनिर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् और दिगम्बर-परम्परा के अनुसार १६२ वर्ष पश्चात् चतुर्दश पूर्वधरों का विच्छेद हुआ। यहाँ दोनों परम्पराओं में मात्र आठ वर्षों का अन्तर है। किन्तु दस पूर्वधरों के विच्छेद के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं में कोई समरूपता नहीं देखी जाती है। श्वेताम्बर-परम्परानुसार आर्य सर्वमित्र और दिगम्बर-परम्परा के अनुसार आर्य धर्मसेन या आर्य सिद्धार्थ अन्तिम दस पूर्वी हुए हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में आर्य सर्वमित्र को अन्तिम दस पूर्वधर कहा गया है। दिगम्बर- परम्परा में भगवतीआराधना के कर्त्ता शिवार्य के गुरुओं के नामों में सर्वगुप्तगणि और मित्रगणि नाम आते हैं किन्तु दोनों में कोई समरूपता हो यह निर्णय करना कठिन है। दिगम्बर-परम्परा में दस पूर्वधरों के पश्चात् एकदेश पूर्वधरों का उल्लेख तो हुआ है, किन्तु उनकी कोई सूची उपलब्ध नहीं होती। अतः इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की तुलना कर पाना सम्भव नहीं है।

पूर्व साहित्य के विच्छेद की चर्चा के पश्चात् तित्थोगालिय में अंग-साहित्य के विच्छेद की चर्चा हुई है। जो निम्नानुसार है—

उसमें उल्लिखित है कि वीरनिर्वाण के १२५० वर्ष पश्चात् विपाकसूत्र सहित छः अंगों का विच्छेद हो जायेगा, इसके पश्चात् वीरनिर्वाण सं. १३०० में समवायांग का, वीरनिर्वाण सं. १३५० में स्थानांग का, वीरनिर्वाण सं. १४०० में कल्प-व्यवहार का, वीरनिर्वाण सं. १५०० में आयारदशा का, वीरनिर्वाण सं. १९०० में सूत्रकृतांग का और वीरनिर्वाण सं. २००० में निशीथसूत्र का विच्छेद होगा। ज्ञातव्य है कि इसके पश्चात् लगभग अठारह हजार वर्ष तक विच्छेद की कोई चर्चा नहीं है। फिर वीरनिर्वाण सं. २०,००० में आचारांग का, वीरनिर्वाण सं. २०५०० में उत्तराध्ययन का, वीरनिर्वाण सं. २०९००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में दशवैकालिक मूल का और वीरनिर्वाण सं. २१,००० में दशवैकालिक के अर्थ का विच्छेद होगा— यह कहा गया है।

ज्ञातव्य है कि पण्डित दलसुखभाई ने जैन-साहित्य के बृहद् इतिहास की भूमिका (पृ. ६१) में आचारांग का विच्छेद वीरनिर्वाण के २३०० वर्ष पश्चात् लिखा है किन्तु मूल गाथा से कहीं भी यह अर्थ फलित नहीं होता। उन्होंने किस आधार पर यह अर्थ किया यह हम नहीं जानते हैं। हो सकता हैं कि उनके पास इस गाथा का कोई दूसरा पाठान्तर रहा हो।

इस प्रकार हम देखते है कि अंग-आगमों के विच्छेद की चर्चा श्वेताम्बर-परम्परा में भी चली है, किन्तु इसके बावजूद भी श्वेताम्बर परम्परा ने अंग-साहित्य को, चाहे आंशिक रूप से ही क्यों न हो, सुरक्षित रखने का प्रयास किया है।

प्रथम तो प्रश्न यह है कि क्या विच्छेद का अर्थ तत्-तत् ग्रन्थ का सम्पूर्ण रूप से विनाश है? मेरी दृष्टि में विच्छेद का अर्थ यह नहीं कि उस ग्रन्थ का सम्पूर्ण लोप हो गया। मेरी दृष्टि में विच्छेद का तात्पर्य उसके कुछ अंशों का विच्छेद ही मानना होगा। यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर-परम्परा में भी जो अंग-साहित्य आज अवशिष्ट हैं वे उस रूप में तो नहीं हैं जिस रूप में उनकी विषय-वस्तु का उल्लेख स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र आदि में हुआ है। यह सत्य है कि न केवल पूर्व साहित्य का अपितु अंग-साहित्य का भी बहुत कुछ अंश विच्छिन्न हुआ है। आज आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का सातवाँ महापरिज्ञा नामक अध्याय अनुपलब्ध है। भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाकदशा आदि ग्रन्थों की भी बहुत कुछ सामग्री विच्छिन्न हुई है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। स्थानांग में दस दशाओं की जो विषय-वस्तु वर्णित है, वह उनकी वर्तमान विषय-वस्तु से मेल नहीं खाती है। उनमें जहाँ कुछ प्राचीन अध्ययन विलुप्त हुए हैं, वहीं कुछ नवीन सामग्री समाविष्ट भी हुई है। अन्तिम वाचनाकार देवर्धिगणि ने स्वयं भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि मुझे जो भी त्रुटित सामग्री मिली है, उसको ही मैंने संकलित किया है। अत: आगम ग्रन्थों के विच्छेद की जो चर्चा है, उसका अर्थ यही लेना चाहिये कि यह श्रुत-संपदा यथावत् रूप में सुरक्षित नहीं रह सकी। वह आंशिक रूप से विस्मृति के गर्भ में चली गई। क्योंकि भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष तक यह साहित्य मौखिक रहा और मौखिक परम्परा में विस्मृति स्वाभाविक है। विच्छेद का क्रम तभी रुका जब आगमों को लिखित रूप दे दिया गया।

दिगम्बर-परम्परा में श्रुत-विच्छेद सम्बन्धी जो चर्चा है उसके सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि उसमें श्रुतधरों के अर्थात् श्रुत के ज्ञाता आचार्यों के विच्छेद की चर्चा हुई है न कि श्रुत ग्रन्थों के विच्छेद की चर्चा हुई है। दूसरे यह कि पूर्व और अंग के इस विच्छेद की चर्चा में भी पूर्व और अंगों के एकदेश-ज्ञाता आचार्यों का अस्तित्व तो स्वीकार किया ही गया है। धरसेन के सम्बन्ध में भी मात्र यह कहा गया है कि वे अंग और पूर्वों के एकदेश-ज्ञाता थे। इनके बाद अंग एवं पूर्व के एकदेश ज्ञाता आचार्यों की परम्परा भी समाप्त हो गयी हो, ऐसा उल्लेख हमें किसी भी दिगम्बर-ग्रन्थ में नहीं मिला। यही कारण है कि पं. दलसुखभाई मालवणिया (वही, पृ० ६२) आदि कुछ विद्वान् इन उल्लेखों को श्रुतधरों के विच्छेद का उल्लेख मानते हैं न कि श्रुत के विच्छेद का। पुन: इस चर्चा में मात्र पूर्व और अंग साहित्य के विच्छेद की ही चर्चा हुई है। कालिक और उत्कालिक सूत्रों के अथवा छेदसूत्रों के विच्छेद की कहीं कोई चर्चा दिगम्बर-परम्परा में नहीं उठी है। दुर्भाग्य यह है कि दिगम्बर-विद्वानों ने श्रुतधरों के विच्छेद को ही श्रुत का विच्छेद मान लिया और कालिक, उत्कालिक आदि आगमों के विच्छेद की कोई चर्चा न होने पर भी उनका विच्छेद स्वीकार कर लिया। यह सत्य है कि जब श्रुत के अध्ययन की परम्परा मौखिक हो तो श्रुतधर के विच्छेद से श्रुत का विच्छेद मानना होगा, किन्तु जब श्रुत लिखित रूप में भी हो, तो श्रुतधर के विच्छेद से श्रुत का विच्छेद नहीं माना जा सकता। दूसरे मौखिक परम्परा से चले आ रहे श्रुत में विस्मृति आदि के कारण किसी अंश-विशेष के विच्छेद को पूर्ण विच्छेद मानना भी समीचीन नहीं है। विच्छेद की इस चर्चा का तात्पर्य मात्र यही है कि महावीर की यह श्रुत-सम्पदा अक्षुण्ण नहीं रह सकी और उसके कुछ अंश विलुप्त हो गये। अत: आंशिक रूप में जिनवाणी आज भी है, इसे स्वीकार करने में किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये।

अर्धमागधी आगमों की विषय-वस्तु सरल है

अर्धमागधी आगम-साहित्य की विषय-वस्तु मुख्यत: उपदेशपरक, आचारपरक एवं कथापरक है। भगवती के कुछ अंश, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार, जो कि अपेक्षाकृत परवर्ती हैं, को छोड़कर उनमें प्राय: गहन दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चाओं का अभाव है। विषय-प्रतिपादन सरल, सहज और सामान्य व्यक्ति के लिए भी बोधगम्य है। वह मुख्यत: विवरणात्मक एवं उपदेशात्मक है। इसके विपरीत शौरसेनी-आगमों में आराधना और मूलाचार को छोड़कर लगभग सभी ग्रन्थ दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चा से युक्त हैं। वे परिपक्व दार्शनिक विचारों के परिचायक हैं। गुणस्थान और कर्मसिद्धान्त की वे गहराइयाँ, जो शौरसेनी-आगमों में उलब्ध हैं, अर्धमागधी आगमों में उनका प्राय: अभाव ही है। कुन्दकुन्द के समयसार के समान उनमें सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्यात्मवाद के प्रतिस्थापन का भी कोई प्रयास परिलक्षित नहीं होता। यद्यपि ये सब उनकी कमी भी कही जा सकती है, किन्तु चिन्तन के विकास-क्रम की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट रूप से यह फलित होता है कि अर्धमागधी आगम-साहित्य प्राथमिक स्तर का होने से प्राचीन भी है और साथ ही विकसित शौरसेनी आगमों के लिए आधार-भूत भी। समवायांग में जीवस्थानों के नाम से १४ गुणस्थानों का मात्र निर्देश है, जबकि षट्खण्डागम जैसा प्राचीन शौरसेनी आगम भी उनकी गम्भीरता से चर्चा करता है। मूलाचार, भगवतीआराधना, कुन्दकुन्द के ग्रन्थ और गोम्मटसार आदि सभी में गुणस्थानों की विस्तृत चर्चा है। चूँकि तत्त्वार्थ में गुणस्थानों की चर्चा का एवं स्याद्वाद-सप्तभंगी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अभाव है, अत: वे सभी रचनाएँ तत्त्वार्थ के बाद की कृतियाँ मानी जा सकती हैं। इसी प्रकार कषायप्राभृत, षट्खण्डागम, गोम्मटसार आदि शौरसेनी आगम-ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त की जो गहन चर्चा है, वह भी अर्धमागधी आगम-साहित्य में अनुपलब्ध है। अत: शौरसेनी आगमों की अपेक्षा अर्धमागधी आगमों की सरल, बोधगम्य एवं प्राथमिक स्तर की विवरणात्मक शैली उनकी प्राचीनता की सूचक है।

तथ्यों का सहज संकलन

अर्धमागधी आगमों में तथ्यों का सहज संकलन किया गया है अत: अनेक स्थानों पर सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें भिन्नताएँ भी पायी जाती हैं। वस्तुत: ये ग्रन्थ अकृत्रिम भाव से रचे गये हैं और उनके सम्पादन काल में भी संगतियुक्त बनाने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। एक ओर उत्सर्ग की दृष्टि से उनमें अहिंसा की सूक्ष्मता के साथ पालन करने के निर्देश हैं तो दूसरी ओर अपवाद की अपेक्षा से ऐसे अनेक विवरण भी हैं जो इस सूक्ष्म अहिंसक जीवनशैली के अनुकूल नहीं हैं। इसी प्रकार एक ओर उनमें मुनि की अचेलता का प्रतिपादन-समर्थन किया गया है, तो दूसरी ओर वस्त्र-पात्र के साथ-साथ मुनि के उपकरणों की लम्बी सूची भी मिल जाती है। एक ओर केशलोच का विधान है तो दूसरी ओर क्षुर-मुण्डन की अनुज्ञा भी है। उत्तराध्ययन में वेदनीय के भेदों में क्रोध-वेदनीय आदि का उल्लेख है, जो कि कर्मसिद्धान्त के ग्रन्थों में यहाँ तक कि स्वयं उत्तराध्ययन के कर्मप्रकृति नामक अध्ययन में भी अनुपलब्ध है। उक्त साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्धमागधी आगम-साहित्य जैन-संघ का निष्पक्ष इतिहास प्रस्तुत करता है। तथ्यों का यथार्थ रूप में प्रस्तुतीकरण उसकी अपनी विशेषता है। वस्तुत: तथ्यात्मक विविधताओं एवं अन्तर्विरोधों के कारण अर्धमागधी आगम-साहित्य के ग्रन्थों के काल-क्रम का निर्धारण भी सहज हो जाता है।

अर्धमागधी आगमों में जैनसंघ के इतिहास का प्रामाणिक रूप

यदि हम अर्धमागधी आगमों का समीक्षात्मक दृष्टि से अध्ययन करें, तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन-परम्परा के आचार एवं विचार में देश-कालगत परिस्थितियों के कारण कालक्रम में क्या-क्या परिवर्तन हुए इसको जानने का आधार अर्धमागधी आगम ही है, क्योंकि इन परिवर्तनों को समझने के लिए उनमें उन तथ्यों के विकास-क्रम को खोजा जा सकता है। उदाहरण के रूप में जैनधर्म में साम्प्रदायिक अभिनिवेश कैसे दृढ़-मूल होता गया इसकी जानकारी ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग और भगवती के पन्द्रहवें शतक के समीक्षात्मक अध्ययन से मिल जाती है। ऋषिभाषित में नारद, मंखलिगोशाल, असितदेवल, नारायण, याज्ञवल्क्य, बाहुक आदि ऋषियों को अर्हत् ऋषि कहकर सम्मानित किया गया है। उत्तराध्ययन में भी कपिल, नमि, करकण्डु, नग्गति, गर्दभाली, संजय आदि का सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया और सूत्रकृतांग में इनमें से कुछ को आचारभेद के बावजूद भी परम्परा-सम्मत माना गया। किन्तु ज्ञाताधर्मकथा में नारद की और भगवती के पन्द्रहवें शतक में मंखली गोशाल की समालोचना भी की गई है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जैन-परम्परा में अन्य परम्पराओं के प्रति उदारता का भाव कैसे परिवर्तित होता गया और साम्प्रदायिक अभिनिवेश कैसे दृढ़मूल होते गये, इसका यथार्थ चित्रण उनमें उपलब्ध हो जाता है। इसी प्रकार आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, आचारचूला, दशवैकालिक, निशीथ आदि छेदसूत्र तथा उनके भाष्य और चूर्णियों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जैनाचार में कालक्रम में क्या-क्या परिवर्तन हुआ है। इसी प्रकार ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा आदि के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पार्श्वापत्यों का महावीर के संघ पर क्या प्रभाव पड़ा और दोनों के बीच सम्बन्धों में कैसे परिवर्तन होता गया। इसी प्रकार के अनेक प्रश्न, जिनके कारण आज का जैन समाज साम्प्रदायिक कटघरों में बन्द है, अर्धमागधी आगमों के निष्पक्ष अध्ययन के माध्यम से सुलझाये जा सकते हैं। शौरसेनी आगमोंमें मात्र मूलाचार और भगवती-आराधना को, जो अपनी विषय-वस्तु के लिये अर्धमागधी आगम-साहित्य के ऋणी हैं, इस कोटि में रखा जा सकता है, किन्तु शेष आगमतुल्य शौरसेनी ग्रन्थ जैनधर्म को सीमित घेरों में आबद्ध ही करते हैं।

अर्धमागधी-आगम: शौरसेनी-आगम और परवर्ती महाराष्ट्री व्याख्या-साहित्य के आधार

अर्धमागधी-आगम शौरसेनी-आगम और महाराष्ट्री-आगमिक व्याख्या-साहित्य के आधार रहे हैं। अर्धमागधी आगमों की व्याख्या के रूप में क्रमश: निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, टब्बा आदि लिखे गये हैं, ये सभी जैनधर्म एवं दर्शन के प्राचीनतम स्रोत हैं। यद्यपि शौरसेनी आगम और व्याख्या साहित्य में चिन्तन के विकास के साथ-साथ देश, काल और सहगामी परम्पराओं के प्रभाव से बहुत कुछ ऐसी सामग्री भी है, जो उनकी अपनी मौलिक कही जा सकती है फिर भी अर्धमागधी आगमों को उनके अनेक ग्रन्थों के मूलस्रोत के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। मात्र मूलाचार में ही तीन सौ से अधिक गाथाएँ उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यकनिर्युक्ति, जीवसमास, आतुरप्रत्याख्यान, चन्द्रवेध्यक (चन्दावेज्झय) आदि में उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार भगवतीआराधना में भी अनेक गाथाएँ अर्धमागधी आगम और विशेष रूप से प्रकीर्णकों (पइन्ना) से मिलती हैं। षट्खण्डागम और प्रज्ञापना में भी जो समानताएँ परिलक्षित होती हैं, उनकी विस्तृत चर्चा पण्डित दलसुखभाई मालवणिया ने (प्रो.ए.एन. उपाध्ये व्याख्यानमाला में) की है। नियमसार की कुछ गाथाएँ अनुयोगद्वार एवं इतर आगमों में भी पाई जाती हैं, जबकि समयसार आदि कुछ ऐसे शौरसेनी आगम-तुल्य ग्रन्थ भी हैं, जिनकी मौलिक रचना का श्रेय उनके कर्ताओं को ही है। तिलोयपन्नत्ति का प्राथमिक रूप विशेष रूप से आवश्यकनिर्युक्ति तथा कुछ प्रकीर्णकों के आधार पर तैयार हुआ था, यद्यपि बाद में उसमें पर्याप्त रूप से परिवर्तन और परिवर्धन किया गया है। इस प्रकार शौरसेनी आगमों के निष्पक्ष अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनका मूल आधार अर्धमागधी आगम-साहित्य ही रहा है तथापि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनमें जो सैद्धान्तिक गहराइयाँ और विकास परिलक्षित होते हैं, वे उनके रचनाकारों की मौलिक देन हैं।

अर्धमागधी आगमों का कर्तृत्व अज्ञात

अर्धमागधी आगमों में प्रज्ञापना, दशवैकालिक और छेदसूत्रों के कर्तृत्व को छोड़कर शेष के रचनाकारों के सम्बन्ध में हमें कोई स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती है। यद्यपि दशवैकालिक आर्य शय्यम्भवसूरि की, तीन छेदसूत्र आर्यभद्रबाहु की और प्रज्ञापना श्यामाचार्य की कृति मानी जाती है, महानिशीथ का उसकी दीमकों से भक्षित प्रति के आधार पर आचार्य हरिभद्र ने समुद्धार किया था, यह स्वयं उसी में उल्लिखित है, तथापि अन्य आगमों के कर्ताओं के बारे में हम अन्धकार में ही हैं। सम्भवतः उसका मूल कारण यह रहा होगा कि सामान्यजन में इस बात का पूर्ण विश्वास बना रहे कि अर्धमागधी आगम गणधरों अथवा पूर्वधरों की कृति है, इसलिये कर्ताओं ने अपने नाम का उल्लेख नहीं किया। यह वैसी ही स्थिति है जैसी हिन्दू-पुराणों के कर्ता के रूप में केवल वेद व्यास को जाना जाता है। यद्यपि वे अनेक आचार्यों की और पर्याप्त परवर्तीकाल की रचनाएँ हैं।

इसके विपरीत शौरसेनी आगमों की मुख्य विशेषता यह है कि उनमें सभी ग्रन्थों का कर्तृत्व सुनिश्चित है। यद्यपि उनमें भी कुछ परिवर्तन और प्रक्षेप परवर्ती आचार्यों ने किये हैं। फिर भी इस सम्बन्ध में उनकी स्थिति अर्धमागधी आगम की अपेक्षा काफी स्पष्ट है। अर्धमागधी आगमों में तो यहाँ तक भी हुआ है कि कुछ विलुप्त कृतियों के स्थान पर पर्याप्त परवर्ती काल में दूसरी कृति ही रख दी गई। इस सम्बन्ध में प्रश्नव्याकरण की सम्पूर्ण विषय-वस्तु के परिवर्तन की चर्चा पूर्व में ही की जा चुकी है। अभी-अभी अंगचूलिया और बंगचूलिया नामक दो विलुप्त आगमों का पता चला, ये भोगीलाल लेहरचन्द भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर में उपलब्ध हैं, जब इनका अध्ययन किया गया तो पता चला कि वे लोकाशाह के पश्चात् अर्थात् सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी मे किसी अज्ञात आचार्य ने बनाकर रख दिये हैं। यद्यपि इससे यह निष्कर्ष भी नहीं निकाल लेना चाहिए कि यह स्थिति सभी अर्धमागधी आगमों की है। सत्य तो यह है कि उनके प्रक्षेपों और परिवर्तनों को आसानी से पहचाना जा सकता है, जबकि शौरसेनी आगमों में हुए प्रक्षेपों को जानना जटिल है।

आगमों की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में जिस अतिशयता की चर्चा परवर्ती आचार्यों ने की है, वह उनके कथन की विश्वसनीयता पर प्रश्न-चिह्न उपस्थित करती है। हमारी श्रद्धा और विश्वास चाहे कुछ भी हो किन्तु तर्कबुद्धि और गवेषणात्मक दृष्टि से तो ऐसा प्रतीत होता है कि आगम-साहित्य की विषय-वस्तु को बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया। यह कहना कि आचारांग के आगे प्रत्येक अंग-ग्रन्थ की श्लोक-संख्या एक दूसरे से क्रमशः द्विगुणित रही थी अथवा १४ वें पूर्व की विषय-वस्तु इतनी थी कि उसे चौदह हाथियों के बराबर स्याही से लिखा जा सकता था, आस्था की वस्तु हो सकती है, किन्तु बुद्धिगम्य नहीं है।

अन्त में विद्वानों से मेरी यह अपेक्षा है कि वे आगमों और विशेष रूप से अर्धमागधी आगमों का अध्ययन श्वेताम्बर, दिगम्बर, मूर्तिपूजक, स्थानकवासी या तेरापंथी दृष्टि से न करें अपितु इन साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से ऊपर उठकर करें, तभी हम उनके माध्यम से जैनधर्म के प्राचीन स्वरूप का यथार्थ दर्शन कर सकेगें और प्रामाणिक रूप से यह भी समझ सकेगें कि कालक्रम में उनमें कैसे और क्या परिवर्तन हुए हैं। आज आवश्यकता है पं. बेचरदास जी जैसी निष्पक्ष एवं तटस्थ बुद्धि से उनके अध्ययन की। अन्यथा दिगम्बर को उसमें वस्त्रसम्बन्धी उल्लेख प्रक्षेप लगेंगे, तो श्वेताम्बर सारे वस्त्रपात्र के उल्लेखों को महावीरकालीन मानने लगेगा और दोनों ही यह नहीं समझ सकेंगे कि वस्त्र-पात्र का क्रमिक विकास किन परिस्थितियों में और कैसे हुआ है? इस सम्बन्ध में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि ये इनके अध्ययन की कुंजियाँ हैं। शौरसेनी और अर्धमागधी आगमों का तुलनात्मक अध्ययन भी उनमें निहित सत्य को यथार्थ रूप से आलोकित कर सकेगा। आशा है युवा-विद्वान् मेरी इस प्रार्थना पर ध्यान देगें।

जैन आगम-साहित्य का परिचय देने के उद्देश्य से सम्प्रतिकाल में अनेक प्रयत्न हुए हैं। सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वानों में हर्मन जैकोबी शुब्रिंग, विण्टरनित्ज आदि ने अपनी भूमिकाओं एवं स्वतन्त्र निबन्धों में इस पर प्रकाश डाला। इस दिशा में अंग्रेजी में सर्वप्रथम हीरालाल रसिकलाल कापड़िया नें 'A History of the Cononical Literature of the Jainas' नामक पुस्तक लिखी। यह ग्रन्थ अत्यन्त शोधपरक दृष्टि से लिखा गया और आज भी एक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में मान्य किया जाता है। इसके पश्चात् प्रो. जगदीशचन्द्र जैन का ग्रन्थ **'प्राकृत-साहित्य का इतिहास'** भी इस क्षेत्र में दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान द्वारा 'जैन-साहित्य का बृहद् इतिहास' योजना के अन्तर्गत प्रकाशित प्रथम तीनों खण्डों में प्राकृत आगम-साहित्य का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। इसी दिशा में आचार्य देवेन्द्रमुनिशास्त्री की पुस्तक **'जैनागम : मनन और मीमांसा'** भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। मुनि नगराजजी की पुस्तक **'जैनागम और पाली-त्रिपिटक'** भी तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पं. कैलाशचन्द्र जी द्वारा लिखित **'जैन-साहित्य के इतिहास की पूर्व पीठिका'** में अर्धमागधी आगम-साहित्य का और उसके प्रथम भाग में शौरसेनी आगम साहित्य का उल्लेख हुआ है किन्तु उसमें निष्पक्ष दृष्टि का निर्वाह नहीं हुआ है और अर्धमागधी आगम-साहित्य के मूल्य और महत्त्व को सम्यक् प्रकार से नहीं समझा गया है।

पूज्य आचार्य श्री जयन्तसेनसूरि जी ने **'जैन-आगम-साहित्य : एक अनुशीलन'** कृति की सर्जना जनसाधारण को आगम-साहित्य की विषय-वस्तु का परिचय देने के उद्देश्य की है, फिर भी उन्होंने पूरी प्रामाणिकता के साथ संशोधनात्मक दृष्टि का भी निर्वाह किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org